शिक्षाष्टक

कीर्तनीयः सदा हरिः

हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे
हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे
हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे
हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे
हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे
हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे

※ जय गौर ※

शिक्षाष्टक

(व्याख्या टीका सहित)

प्रकाशक—
श्रीराधामाधव सेवा संस्थान
श्रीकृष्ण निकेतन, रेलवे सरकूलर रोड,
गोरखपुर

प्रकाशन-तिथि
मकर संक्रान्ति, विक्रम संवत् २०२५, गौराब्द ४८२,
बङ्गाब्द १३७५, शकाब्द १८९०, ईस्वी सन् १९६९

मुद्रक—
राधा प्रेस
गांधी नगर, दिल्ली-३१

प्रथमावृत्ति ११००]

न्यौछावर { राज संस्करण : साढ़े तीन रुपए
साधारण संस्करण : ढाई रुपए

सङ्कीर्त्तन-ध्वनियाँ

जय शचि-नन्दन गौर गुणाकर ।
प्रेम परस-मणि भाव-रससागर ॥

●

जय गौर हरे जय गौर हरे ।
जय जय शचिनन्दन गौर हरे ॥

●

श्रीकृष्ण चैतन्य प्रभु नित्यानन्द ।
हरे कृष्ण हरे राम राधे गोविन्द ॥

●

श्रीकृष्ण चैतन्य प्रभु नित्यानन्द ।
जय अद्वैत गदाधर गौरभक्तवृन्द ॥

●

श्रीकृष्ण चैतन्य प्रभु नित्यानन्द ।
जय अद्वैतचन्द्र जय गौर भक्तवृन्द ॥

●

जय जय श्रीगौराङ्ग विष्णुप्रियानाथ ।
जीव प्रति करो प्रभु शुभ दृष्टिपात ॥

●

जय शचिनन्दन जय गौरहरि ।
विष्णुप्रिया प्राणनाथ नदिया विहारी ॥

●

भज निताई गौर राधेश्याम ।
जप हरे कृष्ण हरे राम ॥

●

श्रीरूप सनातन भट्ट रघुनाथ ।
श्रीजीव गोपाल भट्ट दास रघुनाथ ॥

●

निताई गौर राधेश्याम। हरे कृष्ण·हरे राम ॥

विषय-सूची

विषय		पृष्ठ-संख्या

प्रकाशकीय निवेदन

श्रीमन्महाप्रभुका शिक्षाष्टक श्रीचैतन्य-चरितामृतका ही भाग है जिसकी रचना बंगभाषामें राधाकुण्ड निवासी श्रीकृष्णदास कविराज गोस्वामी महोदयने की थी। श्रीचैतन्य-चरितामृत, ग्रन्त्यलीलाके २०वें परिच्छेदमें इसका वर्णन है। इसकी उपलब्ध व्याख्या ग्रौर टीकाग्रोंमें डाक्टर श्रीराधागोविन्द नाथकी "श्रीगौरकृपातरङ्गिणी" टीका हमें सर्वोत्तम लगी। टीका सहित सम्पूर्ण ग्रन्थ वृहद आकारका ६ खंडोंमें है। उसमेंसे शिक्षाष्टकके ग्रंशका हिन्दी अनुवाद उससे सम्बन्धित ग्रन्य सामग्रियोंके सहित हिन्दी भाषी प्रेमी भक्तोंके रसास्वादनके लिये टीकाकारकी अनुमतिसे प्रकाशित किया जा रहा है।

टीकाकारके संक्षिप्त परिचयका ग्रंश तथा उनका चित्र कलकत्ताके 'साधना प्रकाशनी' के श्रीदेवदास नाथकी कृपासे प्राप्त हो सका है जिसके लिये हम उनके बहुत आभारी हैं।

'श्रीमन्महाप्रभुजीकी रचनाग्रोंके सम्बन्धमें यत्र-तत्र उल्लेख' की खोज में तथा 'शिक्षाष्टकके पाठ भेद' के सम्बन्धमें व्रजभूमि स्थित कुसुम सरोवरवाले पूज्यचरण श्रीकृष्णदास बाबाजीने बड़ी सहायता की है। श्रीचैतन्य-साहित्यके प्रकाशनकी चेष्टामें उन्होंने ग्रपना जीवन लगा रक्खा है। शिक्षाष्टककी 'रसिकरङ्गदा' संस्कृत टीका भी पूज्यचरण श्रीकृष्णदास बाबाजीकी कृपासे ही प्राप्त हो सकी है। उनकी इस कृपाके लिये हम अन्तर्हृदयसे कृतज्ञ हैं।

शिक्षाष्टकका हिन्दी पद्यानुवाद गीताप्रेससे प्रकाशित होनेवाले 'कल्याण' के सम्पादकीय विभागके एक भावुक सदस्यने किया है। वे अपना

नाम प्रकट करनेको अनुमति देनेमें बहुत संकुचित होते हैं जो श्रीमन्महाप्रभु जीकी शिक्षाके अनुकूल ही है। अतः उनका नाम प्रकट किये बिना ही उनकी इच्छाके विपरीत भी हम उनके प्रति अपनी कृतज्ञता प्रकट किये बिना नहीं रह सकते।

उर्दू पद्यानुवाद गौरभक्त श्रीव्रजमोहनजी 'मधुर' ने करनेकी कृपा की है। इसके लिये उनका हम हृदयसे आभार मानते हैं।

बंगलाका पद्यानुवाद देवनागरी लिपिमें दे दिया गया है, जिससे जो व्यक्ति बंगला भाषा तो समझते हों लेकिन लिपि नहीं पढ़ सकते हों, वे भी इसका आस्वादन कर सकें।

परिशिष्टमें वे स्तोत्र दिये गये हैं, जिनको कुछ व्यक्ति श्रीमन्महाप्रभुजो द्वारा रचित बताते हैं और अन्य व्यक्ति केवल उनके द्वारा पठित बताते हैं। स्तोत्र बहुत सुन्दर हैं और भक्तजनोंके आस्वादनकी वस्तु हैं। इसलिये इस पुस्तकके अन्तमें उन्हें दे दिया गया है।

बंगभाषासे टीकाका अनुवाद किया गया है। अनुवादकको बंगभाषाका पूरा ज्ञान न होनेसे भूलें रहनी स्वाभाविक हैं। कोई सज्जन ऐसी भूलोंकी ओर ध्यान आकृष्ट करेंगे तो हम उनका बड़ा आभार मानेंगे और अगले संस्करणमें उनको सुधारनेका पूरा प्रयत्न किया जायगा।

प्रूफ देखनेका पूरा अभ्यास न होनेके कारण, असावधानीसे तथा मुद्रण कार्यके समय कभी कोई टाईप टूट जानेसे पुस्तकके मुद्रणमें जहाँ-तहाँ अशुद्धियाँ रह जाना स्वाभाविक है, जिससे पाठकों को कुछ असुविधा हो सकती है। इसके लिये हम पहलेसे ही नम्रतापूर्वक क्षमा याचना कर लेते हैं।

इस प्रकारके भक्तिपरक सत्साहित्यका प्रचार, प्रसार तथा प्रकाशन करना भी 'श्रीराधामाधव सेवा संस्थान' का एक उद्देश्य है। अपने इस उद्देश्यको चरितार्थ करनेके प्रयासमें यह एक और सुरभित सुमन अपने सहृदय विज्ञ पाठकों तथा भावुक भक्तोंके रूपमें अभिव्यक्त श्रीराधामाधवके श्रीचरणोंमें अर्पित करते हुए हमें बड़ी प्रसन्नताका अनुभव हो रहा है।

प्रकाशकीय निवेदन

श्रीराधामाधवके पाद-पद्मोंमें हमारी यह विनीत प्रार्थना है कि वे ऐसी कृपा बनाये रहें जिससे संस्थानको भविष्यमें भी अपने पाठकोंके समक्ष इसी प्रकारका सुरुचिपूर्ण स्वस्थ साहित्य प्रस्तुत करनेकी शक्ति, सामर्थ्य एवं अवसर प्राप्त होते रहें, जिससे जन-जनके हृदय सरस हो उठें और उनसे प्रेमके निर्झर फूट पड़ें।

श्रीराधामाधवकी कृपा हम सब पर नित्य सतत् बरसती रहे।

श्रीराधामाधवार्पणमस्तु।

श्रीकृष्ण निकेतन,
रेलवे सर्कुलर रोड,
गोरखपुर,

भक्त-दासानुदास—
मंत्री
श्रीराधामाधव सेवा संस्थान

टीकाकार डाक्टर श्रीराधागोविन्द नाथका परिचय

(यह वृत्तान्त श्रीदेवदास नाथ-साधना प्रकाशनी, ६९ सीताराम घोष स्ट्रीट, कलकत्ता ९ की कृपासे प्राप्त हुआ है, जिसके लिये हम लोग उनके आभारी हैं।—प्रकाशक)

बंगालके वर्तमान कालके अद्वितीय वैष्णवाचार्य श्रीराधागोविन्द नाथका बंगालमें आविर्भाव बंगालके परम सौभाग्यका परिचायक है। गौड़ीय वैष्णव धर्मके सब मूल तत्वोंके एवं श्रीश्रीचैतन्य चरितामृतके दुरूह दार्शनिक तत्वों के सम्यक् उद्घाटनकी जो आवश्यकता थी, उसको पूर्ण करनेके लिये ही करुणामय श्रीश्रीराधागोविन्दने श्रीराधागोविन्द नाथ महाशयको नवाखाली जिलेके अन्तर्गत हाजिरपाड़ा ग्राममें बंगाब्द १२८५ साल के माघकी २०वीं तारीख (तदनुसार २ फरवरी सन् १८७९ ईसवी) के दिन प्रादुर्भूत किया। इनके पिताश्रीका नाम चन्द्रमणिनाथ एवं मातुश्रीका नाम व्रजसुन्दरी देवी था। कहा जाता है कि श्रीराधागोविन्दके चरणोंमें प्रार्थनाके फलस्वरूप उनकी कृपासे प्राप्त पुत्ररत्नका नाम 'राधागोविन्द' रखा गया।

इनकी विद्या यथा समय आरम्भ हुई। मध्य अंग्रेजी विद्यालय (मिडल इंगलिश स्कूल) की, परीक्षामें श्रीराधागोविन्द नाथने प्रथम विभागमें प्रथम स्थान प्राप्त किया था। सन् १९०० ई० में कलकत्ता विश्वविद्यालयकी एण्ट्रेन्स (प्रवेशिका) परीक्षामें तृतीय स्थान प्राप्त किया तथा गणितमें प्रथम स्थान प्राप्त किया और ढाका कालेजसे एफ. ए. परीक्षामें चतुर्दश (चौदहवें) स्थानपर अधिकार करके छात्रवृत्ति पायी थी। बी० ए० पढ़नेके लिये वे कलकत्तामें आकर जनेरल एसैम्बली (वर्तमान स्काटिश चर्च कालेज) में प्रविष्ट हुए एवं बी० ए० परीक्षामें गणितमें आनर्स (Honours) के साथ उत्तीर्ण हुए। सन् १९०५ ई० में इन्होंने एम० ए० परीक्षामें पञ्चम स्थान पर अधिकार पाया।

ऐसी योग्यताके साथ एम०ए० परीक्षामें उत्तीर्ण होनेके उपरान्त श्रीराधागोविन्द नाथने अपना कर्म-जीवन आरम्भ किया। आरम्भमें उन्होंने

डा० श्रीराधा गोविन्द नाथ

नेशनल प्रिंट क्राफ्ट्स

कलकत्ताके सैण्ट्रल कालेजमें अध्यापकका पद ग्रहण किया और उसके पश्चात् सी० एम० एस० कालेजमें अध्यापकके पदपर कार्य करते रहे। उस समय उनको चटगाँवमें सरकारी कालेजमें कार्य करनेका अवसर मिला किन्तु उसको छोड़कर सन् १६०८ ई० में उन्होंने कुमिल्ला विक्टोरिया कालेजमें अध्यापकका पद ग्रहण किया। इसी कालेजमें पीछे वे सहकारी अध्यक्ष बने एवं बादमें सन् १६३१ से १६४३ तक अध्यक्षके पद को अलंकृत किया। इस कालेजसे अवसर ग्रहण करके उन्होंने नवाखाली जिलेके अन्तर्गत चौमुहानी कालेजकी प्रतिष्ठा और परिचालनके लिये उसका अध्यक्ष-पद ग्रहण किया। कुमिल्ला और चौमुहानी कालेजमें कार्य करते समय उन्होंने अपने मधुर व्यवहारसे छात्र, अभिभावक, शिक्षक, प्राध्यापक,प्रमुख,—सभीकी अतुलनीय श्रद्धा और भक्ति प्राप्त की थी।

कुमिल्ला कालेजके कार्यकालमें उन्होंने स्कूलके अङ्कगणित और कालेजके बीजगणित (अलजेबरा), ज्यामिति (ज़्योमिट्री), त्रिकोणमिति (ट्रिग्नोमेट्री) आदिकी पाठ्य पुस्तकोंका प्रणयन एवं प्रकाशन करके सुयश अर्जन किया था। उक्त पाठ्य पुस्तकोंने सरकारी एवं विश्वविद्यालयोंका अनुमोदन प्राप्त किया था। इन्हीं दिनों उन्होंने स्थानीय गठनमूलक कार्योंमें भी अपनेको लगाया था। कुमिल्ला यूनियन बैंक, नाथ बैंक आदि बंगालके व्यवसायोंके प्रतिष्ठापनमें उनकी सहायता एवं सहयोग चिरस्मरणीय रहेगा।

देश-विभाजनके समय नवाखालीके साम्प्रदायिक नारकीय दंगोंके बाद श्रीराधागोविन्द नाथ कलकत्ता आकर रहने लगे।

कुमिल्ला विक्टोरिया कालेजमें कार्य करते समय उन्होंने नियमित साधन-भजन और वेद-वेदान्त-पुराण तथा वैष्णव-शास्त्र अनुशीलन करना आरम्भ कर दिया था। उसीके फलस्वरूप उन्होंने श्रीकृष्णदास कविराज गोस्वामी कृत श्रीचैतन्य - चरितामृतकी 'गौरकृपा-तरङ्गिणी' टीकाका प्रणयन एवं प्रकाशन किया। बंगाल एवं भारतवर्षके प्रख्यात पण्डितोंने तथा वैष्णव और भक्तवृन्दने उक्त टीकाकी भूयसी प्रशंसा की।

दूरूह गणित-शास्त्रके ग्रन्थोंके प्रणयनसे जैसे इनके सुगम्भीर ज्ञानका परिचय मिला था, वैसे ही वैष्णव शास्त्रोंकी प्रतिभाका प्रथम

परिचय मिला 'विष्णुप्रिया-गौराङ्ग' 'समाज' एवं 'साधना' मासिक पत्रिकाओंमें उनके प्रबन्धोंके द्वारा।

श्रीश्रीचैतन्य - चरितामृतकी 'गौराङ्गकृपा-तरङ्गिणी' टीका तथा उस ग्रन्थकी भूमिका वैष्णव एवं पण्डित समाजमें विशेष आदरणीय हुई हैं। विश्वके साहित्य भण्डारमें उक्त टीकाका एवं भूमिकाके अन्तर्गत निबन्धोंका एक अमूल्य अवदान है। उक्त टीकाके लिए कलकत्ता विश्वविद्यालयने डा० राधागोविन्द नाथको 'सरोजनी बसु स्वर्ण पदक' प्रदान करके उनके गम्भीर पाण्डित्यको स्वीकृति प्रदान की थी।

उनके द्वारा प्रणीत 'श्रीश्रीगौरतत्व' तथा 'श्रीश्रीगौरकरुणाका वैशिष्ट्य' नामक दो छोटे-छोटे ग्रन्थोंमें वैष्णव शास्त्रके सब तत्व अति-प्राञ्जल भाषामें प्रकाशित हुए हैं।

डा० राधागोविन्द नाथने 'गौड़ीय वैष्णव दर्शन' नामक सुवृहत ग्रन्थकी ५ खण्डोंमें रचना करके विदग्ध समाजको मुग्ध एवं विस्मित बना दिया है। उस ग्रन्थके चौथे और पाँचवें खण्डके प्रकाशनके पूर्व, पहले तीन खण्ड प्रकाशित होने पर पश्चिम-बङ्ग-शासनने ग्रन्थकारको 'रवीन्द्र-स्मृति-पुरस्कार' प्रदान करके वैष्णव-शास्त्रोंमें उनके असाधारण पाण्डित्यको स्वीकार किया था। वैष्णव-ग्रन्थोंके ऊपर गवेषणा कार्य द्वारा उन्होंने भक्तों और सुधीजनोंकी विशेष श्रद्धा प्राप्तकी है।

'महाप्रभु श्रीगौराङ्ग' नामक एक विराट् ग्रन्थका प्रणयन और प्रकाशन श्रीराधागोविन्दनाथका अन्यतम श्रेष्ठ अवदान है। इस ग्रंथमें श्रीगौराङ्गके श्रुति-स्मृति प्रतिपादित तत्व, लीला, करुणाका वैशिष्टय, शिक्षा और अवदान, चरितकथा, भगवत् विचार, श्रीकृष्णलीला और गौरलीलाका सम्बन्ध, साध्य-साधन तत्व, गौर पार्षदोंका विवरण इत्यादि साधकोंके एवं अनुसंधान करने वालोंके लिए अनेक ज्ञातव्य विषय आलोचित हुए हैं। इस ग्रन्थने भी ज्ञानी और गुणीजनोंसे अशेष प्रशंसा प्राप्त की है।

कुछ दिन पूर्व ही श्रीवृन्दावनदास ठाकुर रचित 'श्रीचैतन्यभागवत' श्रीग्रन्थकी इनके द्वारा प्रणीत 'निताइ करुणा-कल्लोलिनी' टीकाने ६

खण्डोंमें प्रकाशित होकर वैष्णव और पण्डित समाजको अभिभूत कर दिया है।

डा० श्रीराधागोविन्दनाथमें, वैष्णव शास्त्रोंके पाण्डित्य और अध्यात्म विद्याके ज्ञानका जैसा परिचय—श्रीचैतन्य चरितामृतकी ६ खण्डोंकी टीका और भूमिकामें, पाँच खण्डोंके गौड़ीय वैष्णव दर्शनमें, महाप्रभु श्रीगौराङ्ग आदि ग्रन्थोंमें—मिलता है वैसा ही श्रीचैतन्य - भागवतकी भूमिका सहित ६ खण्डोंकी टीकामें उनकी व्याख्यान-निपुणताके अभावनीय माधुर्यका और उनके गंभीर ज्ञान तथा तत्वविद्याका परिचय पाया गया है।

वैष्णव-शास्त्रोंमें अगाध पाण्डित्यके लिए नवद्वीपकी पण्डित-मण्डलोने डाक्टर श्रीराधागोविन्दको 'विद्यावाचस्पति' की उपाधि प्रदानकी है। श्रीधाम वृन्दावनके माध्वगौडेश्वर पीठसे 'भक्तिसिद्धान्तरत्न' की, तथा सिन्धी वैष्णव सम्मिलनीसे 'भागवत्भूषण' की उपाधि उनको प्राप्त हुई हैं। श्रीश्रीराधाकुण्ड एवं श्रीगोवर्धनके वैष्णव समाजने उनको 'भक्तिभूषण' की उपाधि प्रदानकी है। श्रीधाम वृन्दावनके वैष्णव थियोलोजिकल विश्वविद्यालयने उनको सर्वोच्च डी० लिट० (पराविद्याचार्य) की उपाधिसे विभूषित किया है।

डा० श्रीराधागोविन्द नाथका व्यक्तिगत जीवन अति पवित्र और साधुताका जीवन है। विनयमें तो वे 'तृणादपि सुनीचेन' की प्रतिमूर्ति हैं। उनका माधुर्य सबको मुग्ध करने वाला है।

इस समय प्राय: ६९ वर्षकी आयुमें अस्वस्थ रहते हुए भी डाक्टर श्रीराधागोविन्द श्रीमद्भागवतकी व्याख्या लिखनेमें प्रवृत्त हैं। अब तक सुवृहत् भूमिकाकी रचना और प्रथम स्कन्धकी व्याख्या पूर्ण हो चुकी है। मुद्रणमें भूमिका और प्रथम स्कन्धकी व्याख्यामात्रका प्राय: ढाई हजार पृष्ठोंका ग्रन्थ होगा। हम आशा करते हैं और भगवानसे प्रार्थना करते हैं कि श्रीमद्भागवतके सब स्कन्धों की व्याख्या उनके द्वारा पूर्ण हो जाय।

भक्त-दासानुदास—
मंत्री
श्रीराधा-माधव सेवा संस्थान

श्रीमन्महाप्रभुजीकी कुछ अन्य रचनाओंके सम्बन्धमें यत्र-तत्र उल्लेख

श्रीअमियनिमाइ चरित, प्रथम खण्ड, चतुर्थ अध्याय के पृष्ठ ५१ पर बाल्यावस्थागत अध्ययन-कालमें महाप्रभुजी द्वारा व्याकरणपर एक टिप्पणीके लिखे जानेका उल्लेख है, जिसका बहुत आदर और प्रचार हुआ था। श्रीचैतन्य-भागवत, आदिखण्ड, छठे अध्यायमें भी अध्ययनकालमें इस टिप्पणीके लिखे जानेका और दशम अध्यायमें पूर्व बङ्गालकी यात्राके समय वहाँके विद्वत् समाज द्वारा उसके आदरका उल्लेख निम्न पयार छन्दोंमें मिलता है—

"आपने करेन प्रभु सूत्रेर टिप्पणी। भूलिला पुस्तक-रसे सर्व्वदेवमणि॥"

—चै० भा० आ० ६।७३

"उद्देशे आमरा सभे तोमार टिप्पणी। लइ, पढ़ि, पढ़ाइ, शुनह द्विजमणि॥"

—चै० भा० आ० १०।७७

डाक्टर श्रीराघागोविन्द नाथने श्रीचैतन्य भागवतकी निताइ-करुणा-कल्लोलिनी' टीकामें इन पयारोंका विश्लेषण इस प्रकार किया है—

"गङ्गादास पण्डितसे महाप्रभुने 'कलाप' व्याकरण पढ़ी थी। पठन-कालमें ही उन्होंने इस व्याकरणपर टीका लिखी थी। लेकिन वह अप्राप्य है। उस ग्रन्थकी आलोचनामें वे सर्वदेवमणि सब कुछ भूले रहते थे। (६।७३)"

पूर्व बङ्गालकी यात्राके पण्डितगण उनसे मिले तब बोले—

"हे द्विजमणि! हम लोग सब (आपके असाक्षातमें आपको स्मरण करके) आपकी टिप्पणी लेकर स्वयं भी पढ़ते हैं एवं अपने विद्यार्थियोंको भी पढ़ाते हैं।

पद्मावतीके तीरस्थ प्रदेशोंसे प्रभुके निकट आये हुए विद्यार्थीवर्ग अध्ययन करके जब अपने देश लौटते थे तब प्रभुके उन विद्यार्थियोंसे अथवा अन्य कोई भी उपायसे उस टीकाको संग्रह करके अध्यापकवर्ग स्वयं भी पढ़ते एवं अपने विद्यार्थियोंको भी पढ़ाते थे। (१०।७७)"

गीताप्रेस, गोरखपुर द्वारा प्रकाशित श्रीचैतन्य-चरितावलीके प्रथम खण्डके 'विद्याव्यासंगी निमाइ' शीर्षक अध्यायके पृष्ठ १५० पर महाप्रभुजीकी व्याकरणकी "पञ्चटीका" का उल्लेख है। यह भी संभवतः इसीकी ओर संकेत है।

"श्रीअद्वैतप्रकाश" के १३वें अध्यायमें पूर्व बंगालकी यात्राके वर्णनमें निम्नलिखित उल्लेख भी संभवतः इसी सम्बन्धमें है।

"पूर्वपक्ष उड़िगेल स्थापिते नारिला। तवे पण्डितेरगण परास्त मानिला॥
समे कहे निमाइ विद्यासागरेर नाम। शुनिछिलूं दैवी विद्या हैल प्रमाण॥
विद्यासागर उपाधिक निमाइपण्डित। विद्यासागर नामे टीका जाहार रचित॥

पूर्व पक्ष उड़ गया, स्थापित नहीं हो सका, तब पण्डितोंने पराजय स्वीकार करली। सभी कहने लगे कि निमाइ 'विद्यासागर' का नाम सुना था, उनकी दैवी विद्या प्रमाणित हो गयी। 'विद्यासागर' उपाधिवाले निमाई पण्डित ही हैं, 'विद्यासागर' नामकी टीका जिनकी रचित है।"

२. महात्मा शिशिरकुमार घोषके श्रीअमिय-निमाइ-चरित, प्रथम खण्ड, चतुर्थ अध्यायमें एवं गीताप्रेस, गोरखपुर द्वारा प्रकाशित श्रीचैतन्य-चरितावली प्रथमखण्डके 'विद्याव्यासंगी निमाइ' शीर्षक अध्यायमें पृष्ठ १५४-१५६ पर महाप्रभुजी द्वारा लिखी गयी न्यायशास्त्रीकी अद्वितीय टीका का भी उल्लेख है। अपने सहपाठी रघुनाथ द्वारा लिखित 'दीधित' ग्रन्थकी ख्यातिमें बाधा न आये, इसलिये अपनी टीकाको उन्होंने गङ्गाजीमें प्रवाहित कर दिया था।

इसका उल्लेख श्रीअद्वैतप्रकाशके १९वें अध्यायमें इस प्रकार मिलता है—

पूर्व्वे गौरा जबे शास्त्र कैला अध्ययन । तर्कशास्त्रेर टीका एक कैला विरचन ॥
सेइ टीका लेग्रा तिंह गंगा पारे जाय । हेन काले द्विज एक ताहारे पुछाय ॥
तब कक्षे कौन ग्रन्थ, कह महाशय । न्याय शास्त्रेर टिका एइ, श्रीगौराङ्ग कय ॥
द्विज सेइ टिका देखि करे हाहाकार । कहे मोर परिश्रम हैल छार-खार ॥
इहा देखि मोर टिकार हैबे अनादर । श्रीगौराङ्ग कहे भय नाहि द्विजवर ॥
सेइ क्षणे दयानिधिर दया उपजिल । निजकृत टीका गङ्गा माझे डारि दिल ॥

"पूर्व समयमें जब गौरङ्गने शास्त्र-अध्ययन किया था, तब तर्कशास्त्रकी एक टीकाकी रचनाकी थी । उसी टीका को लेकर वे गङ्गा पार जा रहे थे । उस समय उनसे एक द्विजने पूछा—'हे महाशय ! बताइये, आपके बगलमें कौनसा ग्रन्थ है ।' श्रीगौराङ्गने कहा—'यह न्यायशास्त्रकी टीका है ।' उस उस टीकाको देखकर वे हा-हाकार करने लगे और बोले कि मेरा परिश्रम नष्ट हो गया, इस टीकाको देखकर मेरी टीकाका तो अनादर होगा । श्रीगौराङ्गने कहा—'हे द्विजवर ! कोई भयकी बात नहीं ।' उस समय दयानिधि गौराङ्गके मनमें दया उपजी और उन्होंने अपनी टीका गङ्गाजीमें डाल दी ।"

३. इसी समयके आस-पास, सम्भवतः कुछ काल पूर्व, महाप्रभुने, श्रीअमिय-निमाइ-चरित, चतुर्थखण्ड दशमसंस्करण के पृष्ठ २२७ के अनुसार, सामान्य-लक्षणके सम्बन्धमें इन्हीं रघुनाथके मुखसे अन्याय तर्क सुनकर निम्न श्लोक कहा था—

वक्षोजपानकृत्-काल-संशयो-जागृति स्फुटम् ।
सामान्य-लक्षणा कस्मादकस्मादवलुप्यते ॥

यह श्लोक महाप्रभुजीका स्वरचित भी हो सकता है अथवा और कहींका प्रमाणस्वरूपमें कहा गया भी हो सकता है ।

४. महात्मा शिशिरकुमार घोषने उपर्युक्त ग्रन्थके षष्ठ अध्याय पृष्ठ १५५ पर निम्न श्लोकको, जो श्रीचैतन्य-चरितामृत, अन्त्यलीलाके १४वें परिच्छेदके ३८वें पयार छन्दके पश्चात् चतुर्थ श्लोक है, प्रभुकृत माना है, जिसको श्रीचैतन्यचरितामृममें गोस्वामिपादकृत श्लोक बताया गया है—

प्राप्तप्रणष्टाच्युतवित्त आत्मा ययौ विषादोज्झित-देह-गेहः ।
गृहितकाषालिकधर्मको मे वृन्दावनं सेन्द्रियशिष्यवृन्दः ॥

श्रीकृष्णरूपी धन मेरे हाथ लगकर भी पुनः हाथसे चला गया। इसी दुःखसे मेरी आत्माने देह-गेहका मोह त्यागकर फकीर बनकर इन्द्रियरूपी शिष्य-समूहके साथ वृन्दावनको प्रस्थान किया।

५. शिशिरबाबूके उपर्युक्त ग्रन्थके सप्तम् अध्यायके पृष्ठ १७१ के अनुसार काशीके प्रकाशानन्द सरस्वतीको प्रभुके निकट उनके द्वारा प्रेरित एक श्लोकके उत्तरमें नीलाचलसे प्रभुने वृन्दावन-यात्राके पूर्व निम्न श्लोक भिजवाया था :—

घर्माम्भोमणिकर्णिका भगवतः पादम्बु भागीरथी
काशीनाम्पतिरर्द्धमेव भजते श्रीविश्वनाथः स्वयम् ।
एतस्यैव हि नाम शम्भुनगरे तिस्तारकं तारकं
तस्मात् कृष्णपदाम्बुजं भज सखे श्रीपाद निर्वाणदम् ॥*

यह श्लोक भी प्रभुका स्वरचित भी हो सकता है अथवा और कहींसे उनके द्वारा उद्धृत भी हो सकता है।

६. श्रीचैतन्यभागवत, अन्त्य खण्डके षष्ठ एवं सप्तम अध्यायसे ऐसा लगता है कि श्रीनित्यानन्द-महिमाका निम्नाङ्कित श्लोक—

---

* मणिकर्णिका कुण्ड श्रीकृष्ण (विष्णु)भगवान के स्वेद जल से निर्मित है और भगवती गङ्गा उनका चरणोदक है। और तो और, स्वयं काशीपति भगवान् विश्वेश्वर हरिहरात्मक रूपसे अर्ध अङ्गको ही अपना मानते हैं, शेष अर्धको भगवान् विष्णुको अर्पण कर देते हैं। इतना ही नहीं, उनका तारक नाम (श्रीरामनाम) ही भगवान् शंकरकी राजधानी काशीपुरीमें जीवोंका निस्तार करनेमें समर्थ है। इसलिये हे सखे, हे श्रीपाद, आप भगवान् श्रीकृष्णके चरणकमलोंकी ही शरण लें, वे ही मोक्ष प्रदान करने वाले हैं।

गृह्णीयाद्यवनीपाणिं विशेद्वा शौण्डिकालयम् ।
तथापि ब्रह्मणो वन्द्यं नित्यानन्दपदाम्बुजम् ।।*

श्रीमन्महाप्रभुजीका स्वरचित है ।

७. व्रजभूमि गत कुसुम सरोवरसे कृष्णदासबाबाजी द्वारा प्रकाशित 'श्रीमन्महाप्रभु-ग्रन्थावली' पुस्तकसे प्रतीत होता है कि कदाचित् (क) प्रेमामृत रसायन-स्तोत्र (ख) युगल-परिहार-स्तोत्र और (ग) श्रीराधारसमञ्जरी-स्तोत्र भी श्रीमन्महाप्रभु द्वारा रचित हों । उन्होंने अपनी पुस्तकमें उपर्युक्त स्तोत्रोंमें इस प्रकार लिखा है—

(क) "**प्रेमामृत-रसायन-स्तोत्र**" को "**निजप्रेमामृत**" अथवा "**कृष्णप्रेमामृत**" नाम भी दिया गया है । वहाँ इसके श्रीमन्महाप्रभु द्वारा रचित होनेमें निम्न प्रमाण दिये गये हैं :—

(१) काशी सरस्वती-विद्यापीठके ग्रन्थागारमें संख्या ६४६(१३) पर सुरक्षित प्रेमामृत-स्तोत्रके अन्तमें "इति श्रीकृष्णचैतन्य-मुख-पद्म-विनिसृतं निजप्रेमामृत-स्तोत्रं सम्पूर्णम्" यह पुष्पिका मिलती है ।

(२) कलकत्ता—वराहनगर—श्रीभागवताचार्य पाटवाड़ी, ग्रन्थागार में संख्या ४७ पर इसे महाप्रभुकृत कहा गया है ।

(३) काशी नागरी-प्रचारिणी सभामें—संख्या१७।२ पर 'कृष्णचैतन्य-देव-विरचितं प्रेमामृत स्तोत्रम्' के नामसे उक्त पुस्तक सुरक्षित है ।

(४) वृन्दावन श्रीराधारमणजी मन्दिरके गोस्वामी श्रीमधुसूदनजी सार्वभौमके ग्रन्थागारमें—"निज-प्रेमामृत-स्तोत्रं श्रीकृष्णचैतन्य देव-मुखपद्म-विनिर्गतम्के नामसे यह स्तोत्र विद्यमान है इसमें

*प्रभुपाद नित्यानन्द चाहे किसी यवन स्त्रीसे ब्याह करलें अथवा मदिरालयमें क्यों न चले जायें, उनके चरणारविन्द ब्रह्माजीके लिये भी वन्दनीय ही रहेंगे ।

श्रीवल्लभाचार्यजीके आत्मज श्रीविट्ठलनाथजी द्वारा विरचित अति सुन्दर सुविस्तृत व्याख्या है, जिसके प्रारम्भमें "अथ श्रीकृष्णचैतन्यचन्द्र-मुखपद्म-विनिसृतं निजप्रेमामृतं लिख्यते" और अन्तमें "इति श्रीमच्छ्रीकृष्णचैतन्यचन्द्र-मुखपद्माद्विनिसृतं निज-प्रेमामृत-व्याख्यानं समाप्तम्" लिखित है। यह व्याख्या मणिलाल इच्छाराम देसाई, गुजराती पत्रिका आफिस बम्बई द्वारा मुद्रित और प्रकाशित है और इसका हिन्दी अनुवाद कुसुमसरोवर वाले बाबा श्रीकृष्णदासजीने अभी कुछ दिन पूर्व प्रकाशित किया था।

(५) वृन्दावन—गोस्वामी श्रीवनमालीलालजीके ग्रन्थागारमें उपलब्ध इस स्तोत्रके अन्तमें 'इति श्रीकृष्णचैतन्यचन्द्रमुखपद्म-विनिसृतं निजप्रेमामृतस्तोत्रम्'—यह पुष्पिका दी गयी है।

(६) जयपुर (राजस्थान)से श्रीसरसमाधुरीजी द्वारा प्रकाशित नित्य-पाठसंग्रहमें—'श्रीकृष्णचतन्यचन्द्रमुखपद्म-विनिर्गतं निज-प्रेमामृत-स्तोत्रम्' लिखित है।

(७) स्वयं कृष्णदास बाबाजीके पास भी एक उक्त स्तोत्रकी एक प्राचीन प्रति है, जिसमें उपर्युक्त प्रकार उल्लेख है।

श्रीराधारमण-मन्दिरके सेवायत श्रीपुरुषोत्तमजी गोस्वामीने भी मुझे इस स्तोत्रकी हस्तलिखित प्राचीन प्रतियाँ दिखायी थीं, जो बङ्गाक्षरों एवं देवनागरी अक्षरोंमें भी हैं और जिनके अन्तमें इस प्रकार लिखा है :—

बङ्गाक्षरोंमें—इति श्रीकृष्णचैतन्यमुखविनिर्गतं प्रेमामृतस्तोत्रम्

देवनागरीमें—इति श्रीचैतन्यचन्द्रमुखविनिर्गतं श्रीप्रेमामृतस्तोत्रं समाप्तम्।

(ख) **"युगल-परिहार-स्तोत्र"**

(१) कलकत्ता—वराहनगर पाटवाड़ी ग्रन्थागारमें इसे 'श्रीमन्महा-प्रभुजीके मुखपद्म-विनिर्गतं' बताया गया है।

(२) श्रीरामदास बाबाजी द्वारा प्रकाशित 'साधक-कण्ठमाला' नामक नित्य-क्रिया-संग्रहात्मक पुस्तकमें भी यह स्तोत्र श्रीमन्महाप्रभुजी का बताया गया है।

श्रीश्रीराधारमणजी मन्दिरके श्रीपुरुषोत्तमजी गोस्वामीने भी इसकी एक हस्तलिखित प्राचीन प्रति दिखायी थी, जिसके अन्तमें देवनागरी अक्षरों में लिखा है —

इति श्रीचैतन्यचन्द्र विरचितं श्रीयुगलपरिहारस्तोत्रम् ।

वृन्दावन इमलीतलासे प्रकाशित 'स्तवकल्पद्रुम' के पृष्ठ ६६९-६७१ पर यह स्तोत्र किसी रचयिताके नाम दिये बिना मुद्रित हुआ।

'श्रीविष्णुप्रिया-गौराङ्ग-पत्रिका' के प्रथम वर्षके चतुर्थ अंक (ज्येष्ठ ४३७ गौराब्द, १३३० बंगाब्द) के पृष्ठ ६९-७० पर इस स्तोत्र का मूल न देकर केवल अर्थ दिया गया है। पाद-टिप्पणीमें इस प्रकार लिखा है—

श्रीमन्महाप्रभुके श्रीमुखसे उद्गीर्ण यह प्राचीन अष्टक नित्यधामगत परम वैष्णव दुर्गादास दत्त महाशय द्वारा संगृहीत है। किसी वैष्णव-ग्रन्थमें यह अब तक मुद्रित हुआ है या नहीं, पता नहीं। अष्टक छन्दोभङ्ग एवं भ्रम-प्रमादादिजन्य अन्य दोषोंसे दूषित है, कारण, किसी समयमें यात्रावाले (बिना मञ्चके लीला प्रदर्शनरूप अभिनय दिखानेवाले) विख्यात श्रीवदन-चन्द्र अधिकारी द्वारा इसे कीर्तित होते देखकर उन्होंने उनसे लिख लिया था। इस समय यदि किसी ग्रन्थमें या किन्ही गौर-भक्तके पास यह अष्टक संगृहीत हो, और उसके आधार पर इसका संशोधन कर दिया जाय तो मैं कृतार्थ होऊँगा।

—सम्पादक

(ग) "**राधारसमञ्जरी**" नामका श्रीराधाजीकी महिमाका एक स्तोत्र है, जो गोस्वामी विजयकृष्णजी (वृन्दावन) के पुस्तकालयमें गोस्वामी नीलमणिजी (वृन्दावन) के ग्रन्थागार, भक्ति-विद्यालयमें,

गोस्वामी श्रीकृष्णचैतन्यजी (पटना) के पुस्तकालयमें, गोस्वामी राधाचरणजी (वृन्दावन) के पुस्तकालयमें, कलकत्ता-वराहनगर स्थित श्रीभागवताचार्यको पाटवाड़ीमें, एवं गिरिराज-तरहटी-निवासी बाबा अच्युतानन्द दासजीके पास उपलब्ध हैं।

इमलीतला वृन्दावनसे प्रकाशित स्तवकल्पद्रुमके पृष्ठ ६३५-६३६ पर यह श्रीराधारसमञ्जरी-स्तोत्र रचयिताका नाम दिये बिना छपा है।

८. इन तीन स्तोत्रोंके अतिरिक्त एक श्रीजगन्नाथजीका स्तोत्र है, जिसमें कहीं आठ श्लोक बताकर उसको 'अष्टक' कहा है और कहीं दस श्लोक बताकर 'दशक'। उक्त स्तोत्रके प्रत्येक श्लोकको अन्तिम पंक्ति **'जगन्नाथः स्वामी नयनपथगामी भवतु मे'** है। इसको भी कोई-कोई 'श्रीमन्महाप्रभुमुखपद्म-विनिर्गतम्' बताते हैं। किसी-किसी महानुभावका मत है कि यह जगद्गुरु श्रीशंकराचार्यजी द्वारा रचित है और कोई-कोई इसको गीतगोविन्दके रचयिता भक्तकवि श्रीजयदेवजीके पिता भोजदेवजी द्वारा रचित मानते हैं।

'श्रीविष्णुप्रिया-गौराङ्ग पत्रिकाके चौथे वर्षके दसवें अंङ्क (अगहन, ४४० गौराब्द, १३३३ बंगाब्द) के पृष्ठ ३४५-३४६ पर यह प्रकाशित हुआ है। इसको 'श्रीमन्महाप्रभु मुखोद्गीर्ण' बताया गया है और इसके १० श्लोक हैं। पाद-टिप्पणीमें लिखा है—

बङ्गीय साहित्य-परिषद्के २८वें वर्षके दशवें मासिक अधिवेशनमें पठित।

स्तोत्रके अन्तमें लिखा है—

इति श्रीचैतन्यचन्द्रमोविरचितं श्रीजन्नाथदकं समाप्तम्।

इसके प्रेषक हैं—श्रीशिवचन्द्र शील।

वहाँ प्रेषकने यह भी लिखा है कि उन्होंने १२७४ सालमें ९६ नं० अहीरी टोलासे नृत्यलाल शील द्वारा मुद्रित एवं प्रकाशित नित्यकर्मकी पुस्तक के पृष्ठ ५-६ पर श्रीचैतन्यचन्द्र मुखपद्मविनिर्गत श्रीजगन्नाथाष्टक देखा,

जिसमें बहुत अशुद्धियाँ हैं। १३२८ की चैत्र-संख्याके सुवर्णवणिक् समाचारमें देखा गया कि 'कवि विश्वम्भर पाणि और जगन्नाथ-मङ्गल' शीर्षक प्रबन्ध के लेखक डाक्टर श्रीयुक्त नरेन्द्रनाथ लाहा महाशयने कहा है—

"जगन्नाथमङ्गलके १३०१ सालके संस्करणके शेषमें जगन्नाथका स्तव नवीन रूपमें संनिविष्ट हुआ है। जगन्नाथका स्तव सर्वजन परिचित श्रीचैतन्यचन्द्रमुखपद्मविनिर्गत श्रीजगन्नाथाष्टक है। तब पता लगा कि १२७४ बङ्गाब्दमें जगन्नाथाष्टक सर्वप्रथम मुद्रित एवं प्रकाशित हुआ, किंतु उसमें बहुत अशुद्धियाँ हैं। १३०१ सालमें जो जगन्नाथाष्टक मुद्रित एवं प्रकाशित हुआ है, वह मेरे देखनेमें नहीं आया। अतः पता नहीं कि वह पूर्वोक्त अष्टकका शोधित संस्करण है या नहीं। मुझे बहुत वर्षों पूर्व अपने घरके पुस्तक-भण्डारमें तीन प्राचीन कागज मिले; इन्हीं तीनोंमें जगन्नाथ-दशक लिखित है, जगन्नाथाष्टक नहीं। में समझता हूँ कि महाप्रभुजीने पुरी-अवस्थानकालमें इस जगन्नाथ-दशककी रचना की थी और इसके द्वारा वे जगन्नाथदेवकी स्तुति किया करते थे। पश्चात् जगन्नाथ-दशकके दो श्लोक नृत्यबाबूके कागजोंमें नष्ट हो जानेसे उनके द्वारा प्रकाशित नित्यकर्म-पुस्तकमें जगन्नाथदशकने जगन्नाथ-अष्टकका रूप धारण कर लिया। मैंने जो जगन्नाथ-दशक उद्धार किया है, वह यही है।

कल्याणके वर्ष ३१, सन् १९५७ के, विशेषांक (तीर्थांक) में पृष्ठ ७०१ पर यह स्तोत्र अष्टकके रूपमें ही प्रकाशित हुआ है।

अन्य स्तोत्रों की पुस्तकोंमें भी इसी प्रकार हैं।

उपयुक्त दशकमें जो अतिरिक्त दो श्लोक हैं, उनकी रचना-शैली, कवित्व और भाव-माधुर्य अन्य आठ श्लोकों जैसे ही हैं, इससे निश्चयपूर्वक यह नहीं कहा जा सकता कि ये अतिरिक्त दो श्लोक स्तोत्रके रचयिताके नहीं ही है।

कहा जाता है कि श्रीमन्महाप्रभु नीलाचलमें जब श्रीजगन्नाथके दर्शन करते थे, उस समय वे श्रीजगन्नाथजीके स्तोत्र का पाठ किया करते थे। यह ठीक होने पर भी यह संभव है कि यह स्तोत्र महाप्रभुजीके लीलाकालके पूर्ववर्ती किसी अन्य महानुभावकी रचना हों। श्रीमन्महाप्रभु अपने भावा-वेशमें जिस प्रकार चण्डीदास, विद्यापति, जयदेव आदिकी रचनाओंका

आस्वादन किया करते थे, वैसे ही अन्य महानुभावोंकी रचना भी उनके आस्वादनका विषय हो सकती हैं। जिस रचनामें रचयिताका नाम मूलमें न रहा हो, उसको लोगोंने श्रीमन्महाप्रभुजीकी रचना मान ली हो—इसको भी असम्भव नहीं कहा जा सकता।

९. राघवचैतन्यदास—(गिरधारीकुंज, १८ गोपीनाथ बाग, वृन्दावन) द्वारा प्रकाशित, एवं प्रभुपाद श्रीरूपगोस्वामी द्वारा संग्रहीत पद्यावलीका निम्न श्लोक

नाहं विप्रो न च नरपतिर्नापि वैश्यो न शूद्रो
नो वा वर्णी न च गृहपतिर्नो वनस्थो यतिर्वा।
किन्तु प्रोद्यन्निखिल - परमानन्दपूर्णामृताब्धे-
र्गोपीभर्तुः पदकमलयोर्दासदासानुदासः ॥

—श्रीश्रीभगवतः
(श्लोक-संख्या ७५, पृष्ठ-संख्या ४१)

श्रीमन्महाप्रभु-रचित (श्रीभगवतः) बताया गया है और यही श्लोक बङ्गाक्षरोंमें श्रीरामनारायण विद्यारत्न द्वारा बरहमपुरसे बंगाब्द १२९१ के आषाढ़में प्रकाशित पद्यावलीमें पृष्ठ ७६ पर किसी अज्ञात महानुभावका (**कस्यचित्**) बताया गया है। कोई-कोई इसको जगद्गुरु श्रीशंकराचार्यजी की रचना मानते हैं।

१०. "श्रीअद्वैतप्रकाश" के १९ वें अध्यायमें श्रीमन्महाप्रभुजी द्वारा लिखित श्रीमद्भागवतकी टीकाका भी निम्न पयारोंमें उल्लेख मिलता है—
"एक दिन महाप्रभु अच्युतेर स्थाने। भागवतेर भक्ति-टीका करिला व्याख्याने ॥
श्रीअच्युत कहे एइ टीका सर्व्वोत्तम। स्वामी-भाष्य आदिर आर नाहि प्रयोजन ॥
सर्व्वटीकार सार इथे व्याख्याधिक्य हय। शुनि श्रीकृष्णचैतन्य अच्युतेर कय ॥
जाहे बहु साधुर महत्व हय हानि। ताहा संगोपन कर मोर आज्ञा मानि ॥
शुनि श्रीअच्युत कहे बिस्मय अन्तरे। एइ आज्ञा शुनि मोर पराण विदरे ॥
तव कृत टीका एइ भक्ति राज्येश्वर। श्लोकेर प्रतिपदे हय रसेर भाण्डार ॥
हेन भक्ति-टीका प्रचारिते निषेधिला। सत्य दयासिन्धु नाम आजि प्रकाशिला ॥"

"एक दिन श्रीमन्महाप्रभुजीने अच्युतके यहाँ श्रीमद्भागवतकी 'भक्ति' टीकाका व्याख्यान (प्रवचन) किया। श्रीअच्युत बोले—'यह टीका सर्वोत्तम है, अब स्वामी-भाष्य (श्रीधर स्वामीकी टीका) का प्रयोजन नहीं रहा। यह सब टीकाओंका सार है और व्याख्या अधिकमें है।' यह सुनकर श्रीकृष्ण चैतन्यने अच्युतसे कहा—'जिससे अनेक साधुओंके महत्वकी हानि हो, उसको मेरी आज्ञा मानकर संगोपन अर्थात छिपाकर रखना।' यह सुनकर अच्युतने विस्मयके साथ कहा—'यह आज्ञा सुनकर मेरे प्राण विदीर्ण हो रहे हैं। आपकी रचित टीका भक्ति राज्यकी ईश्वर है, श्लोकके प्रति पदमें रसका भण्डार भरा है, ऐसी भक्ति-टीकाके प्रचारका आपने निषेध कर दिया, आज आपने अपना दयासिन्धु नाम प्रकाशित कर दिया।' (इस टीकाका कहीं भी कोई सन्धान नहीं मिलता)।"

११. श्रीअमियनिमाइ चरित छठे खण्ड, सप्तम संस्करणके पृष्ठ २०१ पर एक पद श्रीमन्महाप्रभुजी द्वारा रचित बताया गया है, जिसका पाठ इस प्रकार है—

आमि परेछि श्याम नामेर हार।
हस्तेर भूषण आमार चरण–सेवन॥
वदनेर भूषण आमार श्याम-गुण-गान।
कर्णेर भूषण आमार से नाम-श्रवण॥
नयनेर भूषण आमार रूप-दरशन॥
यदि तोरा साजाबि मोरे।
कृष्ण नाम लेख आमार अङ्ग भरे॥

ऐसा ही एक पद **'श्रीविष्णुप्रिया-गौराङ्ग-पत्रिका'** प्रथम वर्षके प्रथम अङ्कके पृष्ठ १३ पर दिया हुआ है, जिसको ढाकाके नरकान्त चट्टोपाध्याय द्वारा प्रकाशित **'संगीत-मुक्तावली'** ग्रन्थसे उद्धृत किया गया है, जहाँ इस पदको श्रीमन्महाप्रभु-रचित बताया गया है। उसका पाठ इस प्रकार है—

कानु परशमणि आमार (ऐ)।
कर्णेर भूषण आमार से नाम-श्रवण।
नयनेर भूषण आमार से रूप-दरशन॥
वदनेर भूषण आमार तांर गुणगान।
हस्तेर भूषण आमार से पद-सेवन॥
(आमार) भूषण कि बाकि आछे?
आमि कृष्णचन्द्र-हार परियाछि गले॥

सम्भव है, अन्य लीला-ग्रन्थोंमें या दूसरे ग्रन्थोंमें यत्र-तत्र ऐसे और भी उल्लेख हों।

श्रीमन्महाप्रभुजीकी अपनी प्रकट प्रतिभाका कुछ वर्णन श्रीचैतन्य-भागवत, आदिखण्डके एकादश अध्यायमें मिलता है, जहाँ दिग्विजयी पण्डित केशव काश्मीरीके साथ उनका मिलनप्रसङ्ग और दिग्विजयीका उनके शरणापन्न होनेका वर्णन है। उस समय श्रीमन्महाप्रभुजीकी अवस्था १८ वर्षके आस-पास थी। श्रीशिशिरबाबूने अपने श्रीअमियनिमाइ चरित, प्रथम खण्डके १४वें अध्यायमें एकादश संस्करणके पृष्ठ ६४ से ७१ तक इसका कुछ विस्तृत वर्णन किया है। तब भी महाप्रभुजीने स्वयं कोई शास्त्र-रचना न करके श्रीरूप और श्रीसनातन गोस्वामीको, श्रीचैतन्यचरितामृत, मध्यलीला के १९वें परिच्छेदसे २४वें परिच्छेद तक वर्णित शिक्षा देकर और उनमें शक्ति-संचार करके उन्हींके द्वारा सब भक्ति-शास्त्रोंका प्रणयन करवाया।

श्रीश्रीचैतन्य-चरितामृत, अन्त्यलीला, तीसरे परिच्छेदमें शिक्षाष्टकके अन्तिम श्लोककी व्याख्यामें जो त्रिपदे छन्द *"आमिकृष्णपद दासी........."* हैं उनके श्रीमन्महाप्रभुजी द्वारा रचित होनेके सम्बन्धमें 'श्रीमन्महाप्रभुजीके शिक्षाष्टकका रचनाकाल और उससे संबंधित पद रचना' शीर्षक प्रबन्ध देखिये।

●

शिक्षाष्टकका पाठ-भेद

प्रातः स्मरणीय परमाराध्य श्रीचैतन्यमहाप्रभु-रचित शिक्षाष्टकके श्लोकोंका उद्धरण अनेक ग्रन्थोंमें मिलता है। शिक्षाष्टकके श्लोकोंका पाठ उन सभी ग्रन्थोंमें वैसे तो समान है, परन्तु तृतीय श्लोकके द्वितीय चरण
“तरोरपि
———**सहिष्णुना”** के रूपमें कहीं-कहीं पाठ-भेद मिलता है, जिसका
“तरोरिव
विवेचन निम्न पंक्तियोंमें प्रस्तुत है।

“श्रीचैतन्य-चरितामृत” में सर्वत्र इस श्लोकके दूसरे चरणका पाठ **“तरोरिव सहिष्णुना”** है। ग्रन्थके रचयिता कविराज श्रीकृष्णदासजी गोस्वामीने पयार छन्दोंमें इसकी व्याख्या भी ‘तरुके समान सहिष्णु होकर’ —इस भावकी ही की है। इससे यह निश्चित है कि श्रीचैतन्य-चरितामृतके रचयिता कविराज श्रीकृष्णदासजीने शिक्षाष्टकके तृतीय श्लोकका यही पाठ माना है। अतएव इसे मुद्रणकी भूल नहीं कहा जा सकता।

नित्यलीला-प्रविष्ट एक सन्त श्रीकृष्णदास बाबाजी द्वारा रचित श्रीचैतन्य-चरितामृतकी टीकाकी, श्रीनिताइपद दास बाबाजी द्वारा सम्पादित एवं प्रकाशित समालोचनात्मक व्याख्या हमारे देखनेमें आई है जिसका द्वितीय संस्करण बंगाब्द १३८७ में, ७४, गोपीनाथ बाग, वृन्दावनसे प्रकाशित हुआ है। इसमें मध्यलीलाके १७वें परिच्छेदके पृष्ठ ५.६८ में मूल श्लोकके तीसरे चरणके पाठमें **‘तरोरिव सहिष्णुना’** मुद्रित है—परन्तु अन्वयमें **‘तरोरपि’** है। इस श्लोकके पूर्वार्द्धका अन्वय और अर्थ इस प्रकार दिया गया है—

“तृणादपि सुनीचेन (तृणतः नीचत्वाभिमानिना) तरोरपि (वृक्षादपि) सहिष्णुना (सहनशीलेन)......”

अन्वयके कोष्ठकमें जिस प्रकारका अर्थ दिया गया है, उससे ऐसा नहीं लगता कि "**तरोरिव**" के स्थानपर "**तरोरपि**" मुद्रणकी भूल हो।

कुसुमसरोवरसे कृष्णदास बाबाजी द्वारा प्रकाशित **श्रीमहाप्रभु-ग्रन्थावली**" पुस्तिकामें, गीताप्रेस—गोरखपुर द्वारा प्रकाशित श्रीश्रीचैतन्य-चरितावलीके अन्तिम पाँचवें खण्डके अन्तमें पृष्ठ २५८ पर, इमलीतलास्थ श्रीमन्महाप्रभु-मन्दिर—वृन्दावन द्वारा प्रकाशित "**स्तवकल्पद्रुम**" के पृष्ठ ४२ पर एवं अन्य अनेक जगहोंमें भी "**तरोरिव सहिष्णुना**" के स्थानपर "**तरोरपि सहिष्णुना**" पाठ देखनेमें आता है।

श्रीरूपगोस्वामिपाद-संगृहीत "**पद्यावली**" के श्लोक संख्या ३२ में यही '**तृणादपि** ·····' श्लोक है। श्रीराघवचैतन्य दासजीने "गिरिधारी कुंज"—१८, गोपीनाथ बाग, वृन्दावनसे इस पद्यावलीका देवनागरी लिपिमें प्रकाशन किया है। उक्त संस्करणके पृष्ठ २० पर उन्होंने दूसरे चरणका पाठ "**तरोरपि सहिष्णुना**" लिया है। यही ग्रन्थ बङ्गाक्षरोंमें बरहमपुर (मुर्शिदाबाद) की हरि-भक्ति-प्रदायिनी सभाके राधारमण यन्त्र द्वारा मुद्रित होकर श्रीरामनारायण विद्यारण्य द्वारा बङ्गाब्द १२९१ के आषाढ़में प्रकाशित हुआ था। इसके साथ श्रीनित्यानंदवंशावतंस श्रीवीरचन्द्र गोस्वामिकृत रसिकरङ्गदा टीका भी है। इस ग्रन्थके पृष्ठ ४१ पर इस श्लोकका पाठ तो "**तरोरिव सहिष्णुना**"ही है परन्तु टीका "**तरोरपि सहिष्णुना**" के भावकी इस प्रकार है--

"**तरोरपीति । तरुजातिरपि फलपुष्पपत्रत्वङ्मूलादिभि सर्वेषां हितं करोति तैश्छिद्यमानादिभिरपि यथापराधं सहते तस्मादपि सहनशीलेनेत्यर्थः।**"

शिक्षाष्टकका एक संस्करण वङ्गाक्षरोंमें श्रीचैतन्यमठ, श्रीधाम **मायापुर, नदियासे** प्रकाशित हुआ है। उसके द्वितीय संस्करणमें, जो **गौराब्द** ४७९, **बङ्गाब्द** १३७२ में प्रकाशित हुआ है, पृष्ठ २३ पर इसी श्लोकके द्वितीय चरणका पाठ "**तरोरपि सहिष्णुना**" लिया है और पृष्ठ २४ पर

श्रीसच्चिदानन्द भक्तिविनोद ठाकुर कृत संस्कृत में **"सन्मोदनभाष्य"** दिया है जिसमें इसकी टीका इस प्रकार है—

"तरोरपि सहिष्णुना—इति वाक्येन तरुः संछेदकस्यापि छायाफल-दानेनोपकरोति, कृष्णभक्तस्तु तदपेक्षोच्चप्रवृत्या दयया सर्वान् शत्रु-मित्रानुपकरोतिति सूचितम्।" इत्यादि।

वृक्षसे भी बढ़कर सहनशीलताका उदाहरण श्रीमन्महाप्रभुजीने श्रीनित्यानन्दजीमें दिखलाया था। श्रीनित्यानन्द प्रभु जगाइ-माधाइका उद्धार करने जाकर माधाइ द्वारा मार खानेपर वृक्षकी तरह केवल शान्त नहीं रहे और न उन्होंने यह प्रतीक्षा ही की कि माधाइ उनके पास आये और उनसे कुछ उपकार चाहे तो वे वृक्षकी तरह आपत्ति न करके उसे उपकृत करदें, अपितु वे स्वयं जगाइ-माधाइके पास गये, और माधाइकी चोटके फलस्वरूप सिरसे रक्त बहते रहनेपर भी उनसे अनुनय-विनय करते रहे—

मेरेछिस् मेरेछिस् तोरा, ताते क्षति नाइ।
सुमधुर हरिनाम मुखे बल भाइ॥

—ठाकुर श्रीलोचनदासकृत चैतन्य-मङ्गल, मध्यखण्ड

तुम लोगोंने मारा है, इससे कोई हानि नहीं है, भाई! सुमधुर हरिनाम तो मुखसे कह दो। इस प्रकार उन्होंने जगाइ-माधाइको कुमार्गसे हटाकर सन्मार्गपर लगाया तथा दोनोंका उद्धार किया।

श्रीहरिदास ठाकुर मठ, पुरीसे प्रकाशित "ठाकुर हरिदास" नामक ग्रन्थमें पृष्ठ संख्या २ पर ठाकुर हरिदासके स्वभावके वर्णनमें श्रीमन्महाप्रभुका इसी श्लोक **तृणादपि सुनीचेन**.........का उल्लेख आया है, जिसके द्वितीय चरणका पाठ **"तरोरपि सहिष्णुना"** लिया गया है और श्रीमन्महा-प्रभुके श्रीमुखोक्त **"तरोरपि सहिष्णुना"** वाणीका ठाकुर हरिदासको मूर्त्तरूप बताया गया है। यवन-कुलमें जन्म और लालन-पालन होनेके कारण हरिनाम-कीर्त्तन करने पर इनको जब तत्कालीन यवन शासकने वहाँके

बाजारोंमें घुमा-घुमाकर बैतोंकी मारसे प्राणहरणकी सजा दी और २२ बाजारोंमें बेंत मारते-मारते जब इनको घुमाया जा रहा था, तब ये भगवानसे यही प्रार्थना करते थे—

ए-सब जीवेरे कृष्ण ! करह प्रसाद। मोर द्रोहे नहु ए-सभार अपराध ॥

(चैतन्य-भागवत आदि खण्ड, ११।१०)

अर्थात् हे कृष्ण ! इन सब जीवोंपर कृपा करो। मेरे साथ द्रोह करनेमें इन सबोंका अपराध नहीं है।

साधारणतया भगवानका यह नियम है कि वे अपने अपराधीको तो क्षमा कर देते हैं किंतु अपने भक्तके प्रति किये गये अपराधको क्षमा नहीं करते। पर भक्तकी इच्छा तो यही थी कि जल्लादोंका अपराध न मानकर कृपा की जाय। इसलिये श्रीमन्महाप्रभु सातप्रहरिया प्रसङ्गमें श्रीहरिदास जीसे कहते हैं—

शुन, शुन, हरिदास ! तोमारे जखने। नगरे-नगरे मारि बेड़ाय यवने ॥
देखिया तोमार दुःख, चक्र धर करे। नाम्बिलँ बैकुण्ठ हैते सभा' काटिबारे ॥
प्राणान्त करिया तोमा, मारे जे-सकल। तुमि मने चिन्त' ताहा सभार कुशल ॥
आपने मारण खाओ, ताहा नाहिं लेख'। तखनेह ता' सभार मने भाल देख ॥
तुमि भाल देखिले ना करों मुञि बल। तोलों चक्र, तोया लागि से हय विफल ॥
काटिते ना पारों तोर सङ्कल्प लागिया। तोर पृष्ठे पड़ों तोर मारण देखिया ॥
तोहोर मारण निज-अंगें करि लेङो। एइ तार चिन्ह आछे, मिछा नाहि कहों॥

(चैतन्य-भागवत, मध्यखण्ड, १०।३७-४३)

हे हरिदास ! सुनो, जब यवन लोग तुमको मारते हुए नगर-नगर (बाजारोंमें) लिये घूमते थे, तब तुम्हारा दुःख देखकर मैं बैकुण्ठसे चक्र लेकर उन सबको काट (मार) डालनेके लिए आया था। वे लोग तो तुमको प्राणघातक मार मार रहे थे और तुम मन ही मन उन सबका कुशल चाह रहे थे। अपने पर पड़ रही मारकी ओर तो कोई ध्यान ही नहीं, अपितु उस समय भी तुम उन सबका भला ही चाह रहे थे। तुम उनका मङ्गल चाह रहे थे इसलिए मैं उनपर बलका प्रयोग नहीं कर पाता था। तुम्हारे रक्षार्थ मैं चक्र उठाता

था किंतु वह विफल हो जाता था। तुम्हारे संकल्पके कारण मैं उनका वध नहीं कर पाता था और तुमपर मार पड़ती देखकर मैं तुम्हारी पीठ पर पड़ जाता था, तुम्हारी मारको अपने अङ्गोंपर ले लेता था। यह देखो उसके चिह्न, मैं मिथ्या नहीं कहता।

यों कहकर श्रीमन्महाप्रभुजीने कोड़ोंकी मारके निशान अपनी पीठपर दिखाये। "**तरोरिव सहिष्णुना**" के अनुसार तो ठाकुर श्रीहरिदासजीसे जब उनके मारनेवालोंके द्वारा क्षमा याचना की ही नहीं गयी थी तब उन्हें तटस्थ रहना चाहिये था जैसे काटनेवालेके प्रति वृक्ष तटस्थ रहता है, किंतु मारने-वालोंकी कुशल-कामना करके उनके निमित्त चलाये गये सुदर्शन चक्रसे उनकी रक्षा करवा देना सहिष्णुताकी पराकाष्ठा और '**तरोरपि सहिष्णुना**' का ही उदाहरण है।

महाभारत, शान्तिपर्वमें आपद्धर्म-पर्वके अन्तिम अध्यायोंमें भी एक कथा है जिसका संक्षिप्त विवरण निम्नाङ्कित पदमें है—

अति कृतघ्न जड़ पापी गौतम।
सहज सरन-घन दै जिन्ह राख्यौ, तिन्हकी हत्या करी नीचतम॥
बकपति बिमल राजधर्मा हे, रहे मित्र तिन्ह के दोउ सत्तम।
बिरूपाच्छ राच्छसपति, सुरपति, तीनन्हि में रहि प्रीति अनुत्तम॥
बिरूपाच्छ ने पकरि मँगायौ गौतम कों तेहि छिन करि उद्यम।
भीषण सस्त्रनि काटि दिये सब ताके अंग-अंग नीचाधम॥
मांस न ग्रहन कियौ कृतघ्न कौ नर-मांसाहारी जन लघुतम।
आस्रय-मित्र-द्रोहकारी की देह घृनित अतिसय, असुद्धतम॥
स्वर्ग-सुरभि-मुखफेन सुधामय झरत चिता सौं उठे बकोत्तम।
मिले बिरूपाच्छहिं उड़ि सत्वर, उमग्यौ प्रेम-समुद्र वृहत्तम॥
आए इंद्र मिलन दोउ मित्रन्हि, करि स्वागत बैठारि निकटतम।
बोले धर्मस्वरूप राजधर्मा, "मम विनय सुनौ, देवोत्तम!॥
गौतम मित्र हमारौ, सुरपति! ताहि जिवाय हरौ दुख-बिभ्रम।
करौ कृपा, दै दान धर्मरुचि, करौ सुद्ध गौतम अधमाधम"॥
हिचके इंद्र, लगे समुझावन राच्छसराज मित्र परमोत्तम।

माने नाहिं राजधर्मा, तब सींच्यौ सुधा सक्र सुचि अनुपम ॥
जीवित भयौ पापरत गौतम, भयौ धर्मजीवन उज्ज्वलतम ।
धन्य मित्र! इहि बिधि जिन्ह कीन्हौं मित्र कृतघ्नहि समुद आपु-सम ॥

यह भी "**तरोरपि सहिष्णुना**" का उदाहरण है ।

आज भी समाजमें कई व्यक्ति ऐसे हैं, जिनसे प्रकाशक परिचित हैं, जिनका जीवन क्रियात्मकरूपसे "**तरोरपि सहिष्णुना**" का उदाहरण है । वे अपनी ख्याति नहीं चाहते, इसलिये यहाँ उनके नाम व्यक्त नहीं किये जा रहे हैं ।

श्रीमन्महाप्रभुकी अपनी लीलामें जैसे सभी भाव चरम उत्कर्षको प्राप्त हुए हैं वैसे ही उन्होंने अपने परिकरोंके द्वारा भी करवाया है । उनके वाल्यावस्थाका औद्धत्य, पठनकालमें विद्यानुराग और अल्पावस्थामें अपूर्व पाण्डित्य, गया-यात्राके उपरान्तकी दीनता, विवाहके कुछ काल बाद ही त्रिभुवन-सुन्दरी नव-विवाहिता भार्या श्रीमती विष्णुप्रियाका त्याग और संन्यास ग्रहण, संन्यास-आश्रमके नियमोंका कठोरतासे पालन, गम्भीरामें विरह-भावकी लीला आदि सभीमें चरमोत्कर्ष प्रत्यक्ष है । ऐसी ही कठोरता से उन्होंने अपने अत्यन्त प्रिय भक्त छोटे हरिदासजीको परम वैष्णवी वृद्धा माधवी दासीसे तण्डुल-भिक्षा माँगकर लानेपर, प्रकृतिसे संभाषण करनेके अपराधपर सर्वदाके लिये त्याग दिया । जब उन्होंने देखा कि लोग भक्तिकी साधनाके लिये संन्यास-आश्रमको जरूरी समझने लगे हैं तब वाल्य-अवस्थासे ही अवधूतकी तरह रहनेवाले श्रीनित्यानन्दजीको गृहस्थ बना दिया ।

यह तो हुआ "**तरोरपि सहिष्णुना**" के पक्षका विचार । अब "**तरोरिव सहिष्णुना**" का भी विचार किया जाय ।

वृक्ष बिना किसी प्रत्युपकारकी आशाके स्वभावसे ही प्राणी जगतका अशेष उपकार करता रहता है । लाठी या पत्थरके द्वारा प्रहार किये जाने पर भी वृक्ष, यदि उसके पास उस समय उपलब्ध हो तो प्रहार करनेवाले को तत्काल सुमधुर फल देता है, यदि सुमधुर पके फल न हों तो कच्चे फल ही दे देता है । वे भी न हों तो अपने पत्ते या टहनी ही दे देता है, कुछ न कुछ अपनी सम्पत्तिमें से देता अवश्य है । कुल्हाड़ी आदि द्वारा प्रहार किये जानेपर भी प्रहार करनेवालेको वृक्ष अपनी डाली, छाल, या जड़ बदलेमें

दे देता है। इस प्रकार कष्ट पहुँचानेवालेकी सेवा कर सकने पर, वृक्षके प्रसन्नताके आँसू (रस) भी बहना देखनेमें आता है। बुरे उद्देश्यसे भी वृक्षके निकट जानेवालेको गरमीमें शीतल छाया, वर्षामें आश्रय, एवं शीत-कालमें अपेक्षाकृत उष्ण वातावरण ही मिलेगा। इस प्रकार वृक्षपर प्रहार करनेवाला भी वृक्षसे कुछ न कुछ उपयोगी वस्तु अवश्य प्राप्त करता है। अपनेको पीड़ा पहुँचाने वालेको भी वृक्ष अपनी सेवा द्वारा अथवा अपने प्यारे शरीरका कोई न कोई अंश देकर सुख पहुँचाता है। दूसरी ओर साधारणतया संसारी मनुष्य चाहे कितना ही ऊँचा उठा हुआ हो, अपनेको पीड़ा पहुँचानेवालेको वृक्षकी तरह तुरन्त कुछ देनेमें शायद ही समर्थ हो। मनुष्य अपनेको पीड़ा देनेवाले को उपदेश दे सकता है, उसके मंगलके लिये भगवानसे प्रार्थना कर सकता है, उसके प्रति सद्भावना व्यक्त कर सकता है। बस बाकी तो मनुष्य वृक्षकी अपेक्षा भाग्यहीन है, उसका शरीर किसीके कामका नहीं। वृक्षमें चलनेको शक्ति नहीं है इसलिए वह स्वयं जाकर किसीका उपकार नहीं कर सकता, इसके लिए वृक्षके सामने मजबूरी है। मनुष्य चल-फिर सकता है, वह अपने अपकारीका उपकार करना चाहे तो उसके पास जाकर अपनी सामर्थ्यके अनुसार उसका उपकार कर सकता है। भगवानने वृक्षको चलने-फिरनेकी शक्ति नहीं दी, संभवतः इसीलिए "**तरोरिव सहिष्णुना**" कहा गया हो और उसका वास्तविक भाव "**तरोरपि सहिष्णुना**" का ही हो और इसीलिए टीकाकारोंने "**तरोरिव सहिष्णुना**" पाठकी भी टीका "**तरोरपि सहिष्णुना**" की हो और किसी-किसीने पाठ भी बदलकर "**तरोरपि सहिष्णुना**" कर दिया हो।

जो भी हो, जिस प्रकार साधक भक्त अपनेको तृणको अपेक्षा भी नीचा माने उसी प्रकार वृक्षकी तरह सहनशील होकर भी अपकारीके पास जाकर, भगवानके द्वारा दी गई अपने चलने-फिरनेकी शक्तिका उपयोग करके अपने अपकारीका उपकार करनेकी चेष्टा करें तभी "**तरोरिव या तरोरपि सहिष्णुना**" योग सिद्ध होगा और तभी श्रीमन्महाप्रभुजी द्वारा आचरित और उपदिष्ट व्यवहार सम्पन्न होगा।

●

श्रीमन्महाप्रभुजीके शिक्षाष्टकका रचनाकाल और उससे सम्बन्धित पद-रचना

श्रीमन्महाप्रभुजीने अपने लीलाकालमें किसी साहित्यकी रचना करके नहीं छोड़ी। वे समय-समयपर अपने परिकरोंको वार्त्तारूपमें अथवा उपदेशरूपमें जो कुछ कहा करते थे उसको उनके निकटस्थ अन्तरङ्ग भक्त संक्षेपमें लिखकर रक्खा करते थे। वे भक्त जो कुछ लिखकर रक्खा करते थे वह सब श्रीमन्महाप्रभुजीकी मुखोक्ति रूपमें न होकर उनका भाव ही रहा करता होगा। कोई-कोई श्रुतिधर महाप्रभुजीकी उक्ति अथवा उनकी किसी रचनाको यथावत् लिखकर भी रखा करते होंगे। श्रीमन्महाप्रभुजीके अन्तरङ्ग भक्त जो कुछ लिखकर रक्खा करते थे उसको कड़चा कहा जाता है। इन कड़चाओंमें गोविन्ददासका कड़चा, मुरारिगुप्तका कड़चा और स्वरूप दामोदरका कड़चा प्रसिद्ध हैं। स्वरूप दामोदर उनके अति अंतरङ्ग भक्त और गंभीरालीलाके संगी थे। इन्हींके कड़चाके एवं रघुनाथदास गोस्वामीके प्रत्यक्षदर्शित वर्णनके आधारपर श्रीचैतन्य-चरितामृतमें महाप्रभुजीकी गम्भीरालीलाका वर्णन है।

दुःख है कि इनमेंसे कोई भी कड़चा दशनोंके लिये भी उपलब्ध नहीं। कलकत्ता विश्वविद्यालय द्वारा प्रकाशित "गोविन्ददासका कड़चा" एक पुस्तक है जिसके सम्बन्धमें भी किसी-किसीका मत है कि यह वास्तविक कड़चा नहीं है।

श्रीमन्महाप्रभुजीके लीला ग्रन्थोंमें बङ्गभाषाके प्रसिद्ध ग्रन्थ श्रीश्रीचैतन्य-चरितामृत, श्रीश्रीचैतन्य-भागवत और श्रीश्रीचैतन्य-मङ्गल हैं।

श्रीश्रीचैतन्य-चरितामृतमें श्रीमन्महाप्रभुसे शिक्षाष्टकके स्वरचित आठ श्लोकोंका उल्लेख है। यह पता नहीं लगता कि उनमेंसे किस श्लोककी रचना किस अवसरपर हुई। परन्तु यह सर्वमान्य है कि ये शिक्षाष्टकके आठ श्लोक महाप्रभुजीके स्वरचित हैं। इन श्लोकोंका विवरण श्रीश्रीचैतन्य

चरितामृतके अन्त्यलीलाके अन्तिम बीसवें परिच्छेदमें, गंभीरालीलाके रसास्वादनमें मिलता है, जहाँ श्रीमन्महाप्रभुजीने बारह वर्ष अत्यन्त विरह लीलाके बिताये।

इन आठ श्लोकोंमें से तीसरा श्लोक "**तृणादपि सुनीचेन**………" उसी ग्रन्थके आदिलीलाके १७वें परिच्छेदमें शुक्लाम्बरके तण्डुल भक्षणके उपरान्त श्रीमन्महाप्रभु द्वारा "**हरेर्नाम**……"श्लोक के अर्थ विवरणमें और अन्त्यलीलाके छठें परिच्छेदमें रघुनाथदासको उपदेश देते समय उल्लिखित हुआ है। इससे प्रतीत होता है कि सम्भवतः इस श्लोकको रचना गया यात्राके पूर्व हुई हो।

शिक्षाष्टकके पहिले श्लोक "**चेतोदर्पण**………" का उल्लेख "वंशी शिक्षा" ग्रन्थके चतुर्थ उल्लासमें, श्रीमन्महाप्रभु द्वारा संन्यास ग्रहणके पूर्व, वंशीवदनसे संन्यास ग्रहणकी विदाईके कालमें उपदेश देते समय मिलता है। इससे यह प्रतीत होता है कि इस श्लोककी रचना भी संन्यास ग्रहणके पूर्व हुई हो।

उपरोक्त दो श्लोकोंके अतिरिक्त बाकी छः श्लोकोंकी रचना गंभीरा-लीलाकालमें ही हुई हो, ऐसा अनुमान होता है।

श्रीश्रीचैतन्य-चरितामृत, अन्त्यलीला, बीसवें परिच्छेदके आधारपर, जहाँ शिक्षाष्टकके श्लोक हैं, ऐसा लगता है कि अन्तिम श्लोक "**आश्लिष्य वा**……" की व्याख्या, जिस त्रिपदे छन्द "आमि कृष्ण पद दासी……" द्वारा की गई है, वह भी श्रीमन्महाप्रभुजीका स्वरचित ही है। इस पदके अन्तमें ग्रन्थकार श्रीकृष्णदासजी कविराज गोस्वामी कहते हैं—

"व्रजेर विशुद्ध प्रेम, जेन जाम्बुनद हेम, आत्मसुखेर जाहे नाहि गन्ध।
से प्रेम जानाइते लोके, प्रभु कैल एइ श्लोके, पदे कैल अर्थेर निबन्ध॥

"प्रभु कैल एइ श्लोके, पदे कैल अर्थेर निबन्ध" में श्लोकके साथ 'कैल' और पदके साथ 'कैल' शब्द—जिसका अर्थ है 'किया'—इस बातका द्योतक-सा है कि जिस प्रकार श्लोक प्रभुका स्वरचित है, ऐसे ही यह पद भी उनका स्वरचित ही होना चाहिए।

●

शिक्षाष्टक

(व्याख्या-टीका सहित)

मङ्गलाचरण

वन्देऽहं श्रीगुरोः श्रीयुतपदकमलं श्रीगुरून् वैष्णवांश्च
श्रीरूपं साग्रजातं सहगण-रघुनाथान्वितं तं सजीवम् ।
साद्वैतं सावधूतं परिजनसहितं कृष्णचैतन्यदेवं
श्रीराधाकृष्णपादान् सहगण-ललिताश्रीविशाखान्वितांश्च ।।

राधाभावाभिपूर्णं व्रजरसधयनोद्भूतघूर्णं सुतूर्णं
नृत्यन्तं भक्तमध्ये निरुपममधुरे कीर्तने कृष्णनाम्नाम् ।
वर्षन्तं प्रेमसिन्धुं परमकरुणयाप्लावयन्तं त्रिलोकीं
वन्दे चैतन्यदेवं परिजनसहितं चारुचामीकराभम् ।।

हा गौराङ्ग दयानिधे गुणनिधे हा प्रेमसंपन्निधे
हा सौन्दर्यनिधे क्षमाजलनिधे वात्सल्यवारां निधे ।
हे गांभीर्यनिधे सुधैर्यजलधे हे भक्तवाञ्छानिधे
दीनोद्धारपरावतार भगवन् दीने मयि प्रीयताम् ।।

कान्तं शान्तमशेषजीवहृदयानन्दस्वरूपं परं
सर्वात्मानमनन्तमाद्यममलं विश्वाश्रयं केवलम् ।
भक्त्यानन्दरसैकविग्रहवरं भक्तैकभक्तिप्रियं
भक्तावेशधरं विभुं कमपि तं गौरं सदोपास्महे ।।

श्रीमन्नवद्वीपकिशोरचन्द्र हा नाथ विश्वंभर नागरेन्द्र ।
हा श्रीशचीनन्दन चित्तचौर प्रसीद हे विष्णुप्रियेश गौर ।।

चेतोदर्पण श्लोक को व्याख्या—संकीर्त्तन-माहात्म्य

चेतोदर्पणमार्जनं भवमहादावाग्निनिर्वापणं
श्रेयःकैरवचन्द्रिकावितरणं विद्यावधूजीवनम् ।
आनन्दाम्बुधिवर्द्धनं प्रतिपदं पूर्णामृतास्वादनं
सर्वात्मस्नपनं परं विजयते श्रीकृष्ण-सङ्कीर्त्तनम्*।।१।।

संस्कृत टीका—चेत इति। श्रीकृष्णसङ्कीर्तनं कृष्णगोविन्देति-नामोच्चारणं परं सर्वोत्कर्षं विजयते। कत्थम्भूतं कीर्त्तनम् ? चेतोदर्पणमार्जनं चित्तरूपदर्पणस्य मलापकर्षणम् । पुनः कीदृशम् ? भवमहादावाग्निनिर्वापणम् —संसाररूपवनाग्निनाशनम् । पुनः कीदृशम् ? श्रेयःकैरवचन्द्रिकावितरणम्

---

* श्रीचैतन्यभागवत, आदि-खण्ड, ११वाँ अध्याय

उच्च करि लइले शतगुण पुण्य हय । दोष त ना कहे शास्त्रे, गुण से वर्णय ।।२७०।।
'उच्चैः शत गुणं भवेत' इति ।।

पशु-पक्षी-कीट आदि बलिते ना पारे । शुनिले से हरिनाम तारा सब तरे ।।२७५।।
जपिले से श्रीकृष्ण नाम आपने से तरे । उच्च-सङ्कीर्तने पर-उपकार करे ।।२७६।।
अतएव उच्च करि कीर्त्तन करिले । शतगुण फल हय सर्व्व शास्त्रे बले ।।२७७।।

तथा हि श्रीनारदीयं प्रहलाद वाक्यं

जपतो हरिनामानि स्थाने शतगुणाधिकः ।
आत्मानञ्च पुनात्युच्चैर्जपन् श्रोतृन् पुनाति च ।।

श्रीहरिके नामका जो मन-मनमें जाप करता है, उनकी अपेक्षा उच्च कीर्त्तनकारी शत-गुणा श्रेष्ठ हैं, क्योंकि मन ही मनमें जप करने वाले केवल अपनेको ही पवित्र कर सकते हैं, किन्तु उच्च-कीर्त्तनकारी अपनेको भी पवित्र करते हैं एवं सुनने वालोंको भी पवित्र करते हैं ।

—मङ्गलरूप-कौमदी-ज्योत्स्नाविस्तारितशीलम् । पुनः कीदृशम् ? विद्यावधू-जीवनम्—विद्यारूपा वधू तस्याः प्राणम् । पुनः कीदृशम् ? आनन्दाम्बुधि-वर्द्धनम्—आनन्दरूपसमुद्रस्य वृद्धिकरणम् । पुनः कीदृशम् ? प्रतिपदं—पदे पदे पूर्णामृतास्वादनम्—सकलरसास्वादनकारणम् । पुनः कीदृशम् ? सर्वात्मस्नपनम्—मन आदीन्द्रियगणतृप्तिजनकशीलम् ।

श्लोकका अन्वय सरल है ।

अनुवाद—जो चित्ररूप-दर्पणको मार्जन करे (जिसके द्वारा चित्तकी दुर्वासनाएँ दूर हों), जो संसार-ताप-रूप महादावानलको निर्वापित करे (बुझावे, शान्त करे), जो मङ्गलरूप-कुमुदको ज्योत्स्ना वितरण करे (सब प्रकारके मङ्गलका उत्कर्ष साधन करे), जो विद्यारूप-वधूका प्राणस्वरूप है (जिसके द्वारा तत्त्व-ज्ञान, अथवा भक्ति, हृदयमें स्फुरित एवं रक्षित हों), जो आनन्द समुद्रको बर्द्धित करे, जिसके प्रत्येक पदमें पूर्णामृतका आस्वादन है—अर्थात् जिसमें सब रसोंका आस्वादन प्राप्त हो, एवं जो सर्वात्म-तृप्ति-जनक है (मन आदि सब इन्द्रियोंका तृप्ति करने वाला है) वही श्रीकृष्णनाम-सङ्कीर्त्तन सर्वोत्कर्षमें विजय करता है ।

'चेतोदर्पण···' श्लोकमें श्रीकृष्ण-सङ्कीर्त्तनके महात्म्यका वर्णन हुआ है । इस श्लोकमें बताया गया है कि श्रीकृष्ण-सङ्कीर्त्तन (क) जीवके चित्त-रूपी दर्पणका मार्जन करता है, (ख) संसाररूपी महादावानलको निर्वापित करता है, (ग) जीवके मङ्गलरूपी कुमुदको ज्योत्स्ना वितरण करता है, (घ) यह विद्यावधूका जीवन है, (ङ) यह आनन्दरूपी-समुद्रका वर्द्धन करता है—उच्छलित करता है, (च) इसके प्रत्येक पदमें ही पूर्णामृतका आस्वादन होता है, (छ) यह मन-आदि समस्त इन्द्रियोंका तृप्तिजनक है । सङ्कीर्त्तनके माहात्म्य-ज्ञापक इन कुछ विषयोंकी समालोचना यहाँ वाञ्छनीय है ।

चित्तरूपी दर्पनका मार्जनकारी

(क) **चेतोदर्पण-मार्जनम्**—श्रीकृष्ण-सङ्कीर्त्तन चित्तरूपी दर्पणके लिये मार्जन तुल्य है । जीवके चित्तको दर्पण बताया है । दर्पणपर यदि धूल-

बालू आदि मैल पड़ जाय तो वस्त्रादि द्वारा पोंछकर उस मैलको दूर करके दर्पणको साफ-स्वच्छ किया जाता है ; इस प्रकार स्वच्छ करने वाले कार्यको मार्जन कहते हैं। जीवका चित्तरूपी दर्पण मैलसे ढक गया है, सङ्कीर्त्तनरूपी वस्त्रादि द्वारा बार-बार चित्तका मार्जन करनेसे चित्त-दर्पण स्वच्छ होगा—यही **'चेतोदर्पणमार्जनं'** शब्दका भाव है।

दर्पणके साथ चित्तकी तुलना देनेमें क्या सार्थकता है ? दर्पण यदि स्वच्छ रहे, तो उसके सम्मुख, निकटमें जो वस्तु होगी, दर्पणके भीतर सर्वदा ही उसका प्रतिविम्ब पड़ता रहेगा। यह वस्तु यदि सर्वदा दर्पणके सम्मुख और निकटमें रहे तो दर्पणके भीतर सर्वदा ही उसका प्रतिविम्ब दिखाई देगा। किन्तु दर्पणके ऊपर यदि प्रचुर मात्रामें मैल जमा रहे, तो किसी भी वस्तुका प्रतिविम्ब उसमें प्रतिफलित नहीं होगा। वस्त्रादि द्वारा मैल दूर करते रहनेसे, मैल जितना-जितना दूर होता जायगा उतना ही सम्मुखस्थ वस्तुका प्रतिविम्ब स्पष्टतर होता जायगा। मैल जब सम्पूर्ण दूर हो जायगा, तब प्रतिविम्ब भी सम्यक् रूपसे स्पष्ट हो जायगा।

दर्पणके साथ जीवके चित्तकी तुलनासे यह समझा जाता है कि दर्पणकी तरह चित्तमें भी प्रतिफलनकी क्षमता है, चित्तमें भी निकटस्थ वस्तु प्रतिफलित हो सकती है। चित्तकी निकटस्थ वस्तु कौनसी है ? तत्त्वतः श्रीकृष्ण और श्रीकृष्ण-धाम—दोनों ही 'सर्वग, अनन्त, विभु' हैं—यह विभुत्वादि नित्य है; अतः सर्व-व्यापक श्रीकृष्ण और श्रीकृष्ण-धाम सर्वदा ही सर्वत्र विराजित हैं। इसीलिए श्रीकृष्ण और श्रीकृष्ण-धाम सर्वदा ही सबकी निकटतम वस्तु हैं; जीवका चित्तरूपी दर्पण यदि निर्मल रहे तो उस चित्तमें श्रीकृष्ण और श्रीकृष्ण-धाम—श्रीकृष्ण-लीला आदि भी सर्वदा प्रतिफलित एवं स्फुरित होंगे।

प्रश्न उठ सकता है कि निर्मल चित्तमें सन्निहित श्रीकृष्ण और श्रीकृष्ण-धाम जिस प्रकार प्रतिफलित हो सकते हैं, उसी प्रकार निकटवर्ती प्राकृत वस्तु आदि भी प्रतिफलित हो सकती हैं। यह सम्भव नहीं। श्रीकृष्णादि विभु-वस्तु सर्वत्र हैं—अतः चित्तके अति निकटतम प्रदेशमें भी हैं। कोई भी प्राकृत वस्तु चित्तके उतने निकट नहीं पहुँच सकती—चित्तके

मध्य-स्थलमें रहेगी श्रीकृष्णादि विभुवस्तु—प्राकृतवस्तु रहेगी श्रीकृष्णादिके पश्चात् भागमें। दर्पणमें सम्मुखस्थ वस्तु ही प्रतिफलित होती है, पश्चात्वर्ती वस्तु प्रतिफलित नहीं होती—दर्पण सम्मुख रखने पर पृष्ठदेश दर्पणमें प्रतिफलित नहीं होता। अतः श्रीकृष्णादि विभुवस्तु ही निर्मल चित्त-दर्पणमें प्रतिफलित होगी—प्राकृतवस्तु प्रतिफलित नहीं होगी। और श्रीकृष्णादि विभुवस्तु होनेसे उनके प्रतिविम्बसे ही समस्त दर्पण भरा रहेगा—अन्य वस्तुके प्रतिविम्बके लिये स्थान ही नहीं रहेगा। यह हुई निर्मल चित्तकी अवस्था। किन्तु चित्त यदि निर्मल—स्वच्छ न हो, तो उसमें श्रीकृष्णादि विभुवस्तु प्रतिफलित नहीं होगी।

जीवका स्वरूपसे शुद्ध-बुद्ध-मुक्त स्वभाव है। उसका चित्त भी स्वरूपसे शुद्ध, स्वच्छ, निर्मल—श्रीकृष्ण विषयक वस्तुके प्रतिविम्ब ग्रहणके योग्य—दर्पणके तुल्य है। किन्तु, जो मायाबद्ध जीव हैं, अनादिकालसे वे श्रीकृष्णको भूलकर द्वितीय वस्तु मायासे अभिनिविष्ट हो रहे हैं—मायिक उपाधिको अङ्गीकार किये हुये हैं; इसीसे उनका चित्त मायाके आवरणसे आवृत्त होकर मलिन हो गया है—भगवद्-विषयक वस्तुके प्रतिविम्बको ग्रहण करनेके अयोग्य हो गया है। यह मायिक मलिनता दूर होनेसे चित्त फिर अपने स्वरूपमें अवस्थित होगा—निर्मल दर्पणकी तरह श्रीकृष्ण-विषयक-वस्तु तभी उसमें प्रतिफलित होगी। चित्तकी इस मलिनताको दूर करनेका उपाय है—श्रीकृष्ण-सङ्कीर्त्तन। निरवच्छिन्न भावसे बार-बार श्रीकृष्ण-सङ्कीर्त्तन करते-करते चित्तकी माया-मलिनता अन्तर्हित होगी—जिस प्रकार वस्त्रादि द्वारा बार-बार मार्जन करते-करते दर्पणकी धूल-बालु-रूप मलिनता दूर होती है।

भव-महादावाग्निका निर्वापनकारी

(ख) **भवमहादावाग्नि-निर्वापणम्**—श्रीकृष्ण-सङ्कीर्त्तन संसार-महा-दावानलका निर्वापन करता है। जीवोंकी त्रिताप-ज्वाला ही उनकी संसार ज्वाला है। इसीको महादावाग्नि कहा गया है। दावाग्निका अर्थ—वनाग्नि, वनकी आग। वनमें आग लगनेसे उससे सारा वन जलकर राख हो जाता है। त्रिताप-ज्वालासे जलकर भी जीव अकर्मण्य हो जाता है, इसीसे त्रिताप-ज्वालारूपी सांसारिक दुःखको दावाग्नि कहा गया है।

संसार ज्वालाकी दावानलके साथ तुलना करनेमें सार्थकता है; प्रथम तो वनमें जो आग लगती है, साधारणतः बाहरसे कोई नहीं लगाता—वन-मध्यस्थ वृक्ष-समूहके परस्परके संघर्षणसे वनमें ही इसकी उत्पत्ति होती है। जीवकी संसार-ज्वाला भी तद्रूप है; बाहरकी कोई भी वस्तु इस ज्वाला की हेतु नहीं है—दुर्वासनाओंके परस्परके घात-प्रतिघातसे चित्तके मध्य ही इसकी उत्पत्ति होती है। दुर्वासनाकी प्रेरणासे हम जो सब कर्म करते रहते हैं, या पूर्व जन्ममें करके आये हैं, उसीका फल है हमारी त्रिताप-ज्वाला। इसके लिये हम स्वयं ही दायी हैं, दूसरा कोई नहीं। अनेक समय हम सोचते हैं कि अमुक व्यक्तिके कारण मुझ पर यह विपत्ति आई—इस प्रकार सोचना भी भ्रान्ति है। विपत्ति हमारा कर्मार्जित फल है, हमको भोगना ही होगा। जिसको उपलक्ष्य करके फल आया है, वह तो उस फलका वाहक मात्र है। बाजारसे फल खरीदकर हम यदि दुकानदारको कहें कि मजदूर द्वारा फल भेज देना और मजदूर यदि उन फलोंको ले आवे और वे स्वादिष्ट न निकलें, तो उसके लिये मजदूर दायी नहीं, दायी हम स्वयं ही हैं। जिस व्यक्तिको उपलक्ष्य करके हम पर विपत्ति आती है, वह भी हमारे उपार्जित कर्मफलको वहन करके लाता है, नया कुछ नहीं लाता; अपने दुःखके लिये उसको दायी मानकर उसके प्रति असदाचरण करनेसे, हमारे लिये वह एक नया कर्म करना होगा और उस नये कर्मका फल भी हमको ही भोगना होगा।

हमारे कर्मोंके फलके अनुसार ही हमारा जन्म होता है। जिस स्थानमें जिस प्रकारके माता-पिताके घरमें, जिस प्रकारके आत्मीय-स्वजन अड़ौस-पड़ौसके बीच, जिस प्रकारके वातावरणमें जन्म होनेसे हमारे कर्मफलके भोगकी सुविधा हो सकेगी—हम उसी प्रकारके स्थानोंमें और उसी रूप पारिवारिक अवस्थाके बीचमें जन्म ग्रहण करते हैं। जिनके मध्य हम जन्म लेते हैं वे और हम परस्परके कर्मफल भोगके लिये परस्पर सहायक हैं और परस्परमें एक दूसरेके कर्मफलके वाहक हैं।

दूसरी बात यह है—दावानल जब जलता रहता है, वन या वनस्थ वृक्षादि आगसे दूर सरक कर आत्म-रक्षा नहीं कर सकते—एक स्थान पर खड़े-खड़े ही केवल दग्ध होते रहते हैं। मायाबद्ध जीवकी अवस्था भी उसी प्रकार है। जीव त्रिताप-ज्वालासे केवल जलता ही रहता है—मायिक सुख-

भोगकी आशा-रज्जु द्वारा उसने अपने आपको संसारके साथ इस प्रकार बाँध रक्खा है कि वह इस त्रिताप ज्वालासे दूर भागकर कृष्णोन्मुख होकर आत्म-रक्षा नहीं कर सकता।

संसार विषानले, दिवानिशि हिया जले, जुड़ाइते न कैनु उपाय ॥
(श्रील ठाकुर महाशय)

संसार-रूपी विषके अनल (अग्नि) से रात-दिन हृदय जलता रहता है, तो भी उसकी शान्तिका (मैंने) कोई उपाय नहीं किया।

तीसरे—दावानलसे दग्ध होकर जिस प्रकार वन अपना अस्तित्व ही खो बैठता है, उसके कोई भी चिह्न और नहीं दीख पड़ते—मायाबद्ध जीवकी अवस्था भी उसी प्रकार है। जीव स्वरूपतः कृष्णदास है, कृष्ण-सेवा ही उसका स्वरूपगत कर्त्तव्य है, किन्तु संसारके चक्रमें पड़कर कृष्ण-सेवाकी बात भी जीवके चित्तमें उदय नहीं होती, उसमें कृष्णदासत्वका कोई भी चिह्न नहीं बच रहता।

यदि निरन्तर बहुत समय पर्यन्त मूसलाधार वृष्टि होती रहे तो दावानल बुझ सकता है। उसी प्रकार निरन्तर बहुत काल तक श्रीकृष्ण-सङ्कीर्त्तन करनेसे जीवका संसार ताप दूर हो सकता है।

संसारको महादावानल कहनेका तात्पर्य यह है कि क्षुद्र अग्निशिखा हवासे बुझ सकती है, किन्तु दावानल हवासे बुझ नहीं सकता, प्रचुर वृष्टि-पातसे ही बुझ सकता है, परन्तु महादावानल शायद प्रचुर वृष्टिपातसे भी सरलतासे नहीं बुझ सकता। जीवका सांसारिक दुःख भी लोगोंके सान्त्वनाप्रद वाक्यों द्वारा, प्राकृतिक भोग्य वस्तुके उपभोगादि द्वारा या औषधादि द्वारा दूर नहीं हो सकता—एक मात्र श्रीकृष्ण-सङ्कीर्त्तन ही इसको दूर करनेमें समर्थ हैं।

मंगल-कुमुदके लिये चन्द्रिका-वितरण तुल्य

(ग) श्रेयः कैरव-चन्द्रिका वितरणम्—श्रेयः का अर्थ मङ्गल; कैरवका अर्थ कुमुद; चन्द्रिकाका अर्थ ज्योत्स्ना। श्रीकृष्ण-सङ्कीर्त्तन जीवनके

मङ्गल-रूप कुमुदके लिये ज्योत्स्ना वितरण-तुल्य है। ज्योत्स्नाके संस्पर्शसे रात्रिके समय कुमुद विकसित होता है, यही कविकी धारणा है। ज्योत्स्नाके संस्पर्शसे कुमुद जिस प्रकार विकसित होकर स्निग्ध हास्यसे समुज्ज्वल हो उठता है श्रीकृष्ण-सङ्कीर्त्तनके प्रभावसे भी उसी प्रकार मायाबद्ध जीवका श्रीकृष्ण-सेवोन्मुखतारूप मङ्गल विकसित होता है। श्रीकृष्ण-सङ्कीर्त्तन करते-करते जीवके चित्तसे दुर्वासनाएँ दूर हो जाती हैं एवं श्रीकृष्ण-सेवाकी वासना विकसित होती है।

बहुत बार हम लोग अपने सांसारिक मङ्गलको ही श्रेयमङ्गल मान लेते हैं। वास्तवमें वह मङ्गल नहीं है, वह तो हमारा प्रेय—इन्द्रिय-सुखकी तृप्ति-साधक वस्तु-मात्र है। यह हमारे संसार-बन्धनको और भी दृढ़तर करके दुःखका ही परिपोषण करता है। विशेषतः यह प्रेम, जिसको हम श्रेय मान लेते हैं; चिरस्थायी भी नहीं है। वास्तविक श्रेय या मङ्गल उसी वस्तुको कहते हैं जो ध्वंसहीन हो, जिसके परिणाममें दुःख न हो, जिसको पाकर सांसारिक सुखके लिये जो छटपटाहट है उसकी भी आत्यन्तिक निवृत्ति हो। श्रीकृष्णचरण-सेवा ही एक मात्र श्रेय या मङ्गल है। श्रीकृष्णचरण-सेवा-प्राप्तिके लिये आवश्यक है—जीव जो श्रीकृष्णका नित्यदास है, उस ज्ञानका स्फुरण; जीव और ईश्वरके बीचके सम्बन्धके ज्ञानका विकास; एवं सेवा-वासनाका विकास। सम्बन्ध-ज्ञान एवं सेवा-वासना विकासके लिये सर्वप्रथम आवश्यकता है कृष्णोन्मुखताकी। यह कृष्णोन्मुखताका विकास ही हमारे श्रेयरूपी कुमुदके विकासका प्रथम स्तर है। नाम-सङ्कीर्त्तनके प्रभावसे ही वह सम्भव है और नाम-सङ्कीर्त्तनके प्रभावसे ही परवर्ती स्तर भी क्रमशः विकसित हो सकते हैं।

विद्यावधूका जीवन

(घ) **विद्यावधू जीवनम्**—श्रीकृष्ण-सङ्कीर्त्तन जोवनके लिए विद्या-वधूके जीवन-सदृश है। जिसके बिना कोई रह नहीं सके, वही उसका जीवन या प्राण है। श्रीकृष्ण-सङ्कीर्त्तनके बिना विद्यावधू जीवित नहीं रह सकती। इसीलिए श्रीकृष्ण-सङ्कीर्त्तनको विद्यावधूका जीवन कहा गया है। किन्तु विद्यावधू क्या वस्तु है? विद्यारूप वधू—विद्यावधू। वधूके साथ विद्याकी

तुलना की गई है। किन्तु विद्या क्या है ? जिसके द्वारा जाना जाय वही विद्या। और जिस वस्तुको जान लेने पर और कुछ जानना बाकी न रहे। उस वस्तुको जिसके द्वारा जाना जाय उसीमें विद्याकी पराकाष्ठा है। श्रीकृष्ण आश्रय-तत्व हैं; अतः श्रीकृष्णको जान लेने पर और कुछ जानना बाकी नहीं रहता। श्रीकृष्णको जाननेका एक मात्र उपाय है—भक्ति—**भक्त्याहमेकया ग्राह्यः**। अतः भक्ति ही हुई श्रेष्ठ विद्या; इसीसे श्रीरामानन्द रायने कहा है :—

श्रीकृष्णभक्ति बिना विद्या नाहि आर ॥ (चै०च०म० ८।१९९)

श्रीकृष्ण-भक्तिके सिवा और कोई विद्या नहीं है।"

'विद्यावधूजीवनम्' शब्दमें श्रीकृष्णभक्तिको ही 'विद्या' कहा गया है। इस विद्याको वधू बताया है; प्रतीत होता है इसका तात्पर्य यह है कि कृष्ण-भक्ति वधूकी तरह कोमल-स्वभाव, स्निग्ध, सेवा-परायण, मधुर-स्वभाव और सदा हास्यमयी या प्रसन्न-वदन एवं आत्मगोपन-चेष्टामयी है। अर्थात् जिसके चित्तमें भक्ति महारानी कृपा करके आविर्भूत होती है, उसकी भी ऐसी ही प्रकृति हो जाती है। श्रीकृष्ण-सङ्कीर्त्तन इस वधू-प्रकृति कृष्णभक्तिके लिये जीवन तुल्य है। अर्थात् श्रीकृष्ण-सङ्कीर्त्तनके बिना कृष्णभक्ति उन्मिषित—विकसित नहीं हो सकती, और उन्मिषित होनेके बाद भी श्रीकृष्ण-सङ्कीर्त्तनके बिना स्थायित्व प्राप्त नहीं कर सकती। भक्तिके उन्मेषके लिये और उसकी रक्षाके लिये सर्वदा ही सङ्कीर्त्तन आवश्यक है।

नाम उपाय भी है, उपेय भी है। नाम स्वयं ही परम पुरुषार्थ है। नामीकी तरह नाम परम आस्वाद्य और परम मधुर है। इस श्लोकके विद्यावधूजीवनम्' अंश तक नाम-सङ्कीर्त्तनके उपायकी ही बात बतायी गयी है। नाम-सङ्कीर्त्तनके प्रभावसे चित्तकी समस्त मलिनता दूर हो जाती है, एवं चित्तमें भक्तिका आविर्भाव होता है। केलेके पत्तोकी तरह मायाकी मलिनताके हमारी जिह्वादि इन्द्रियोंके ऊपर अवस्थित होनेसे परम मधुर नामके साथ जिह्वादिका स्पर्श नहीं हो पाता। नाम-सङ्कीर्त्तनके प्रभावसे वही मलिनता रूपी केलेके पत्तेका आवरण दूर होने पर ही जिह्वादिके साथ नामका स्पर्श हो सकता है, तभी नाम-माधुर्यका आस्वादन सम्भव हो सकता

है। नाम-माधुर्यका आस्वादन कैसा अपूर्व है, यही श्लोकके शेषार्द्ध में बताया गया है। इस प्रकार श्लोकका शेषार्द्ध हुआ नाम-सङ्कीर्त्तनके उपेयका या परम-पुरुषार्थताका प्रतिपादक। अब शेषार्द्ध के शब्दोंकी विवेचना होती है।

आनन्दसमुद्रका वर्द्धनकारी

(ङ) **आनन्दाम्बुधिवर्द्धनम्**—श्रीकृष्ण-सङ्कीर्त्तन आनन्दरूपी समुद्रका वर्द्धन करता रहता है। चन्द्रोदयसे समुद्रके वक्षस्थल पर जिस प्रकार विचित्र तरङ्गमाला उठती है, श्रीकृष्ण-सङ्कीर्त्तनके प्रभावसे भी उसी प्रकार भक्तोंके हृदयमें आनन्द नाना वैचित्री धारण करता रहता है। श्रीकृष्ण-सङ्कीर्त्तनके प्रभावसे भक्तका हृदय सर्वदा ही आनन्दसे उद्वेलित होता रहता है। वर्षाकालमें नदी जिस प्रकार किनारे तक जलसे पूर्ण रहती है, श्रीकृष्ण-सङ्कीर्त्तनके प्रभावसे भक्तका हृदय भी उसी प्रकार आनन्द-लहरीसे सर्वदा परिपूर्ण रहता है।

प्रत्येक पदमें पूर्णामृतका आस्वादनकारी

(च) **प्रतिपदं पूर्णामृतास्वादनम्**—श्रीकृष्ण-सङ्कीर्त्तनके प्रत्येक पदमें पूर्णामृतका—सम्पूर्ण रसोंका आस्वादन प्राप्त होता रहता है; सङ्कीर्त्तनके समय जितना पद या शब्द कीर्तित होते हैं उनके प्रत्येक पदमें ही सम्पूर्ण रसोंका पूर्ण आस्वादन मिलता है। इसका कारण यह है कि श्रीकृष्ण-सङ्कीर्त्तन भी आनन्द-स्वरूप है। यथा :—

कृष्णनाम, कृष्णगुण, कृष्णलीलावृन्द। कृष्णेर स्वरूप सम सब चिदानन्द॥
(चै० च० म० १७।१३०)

कृष्णनाम, कृष्णगुण, कृष्णलीला—सभी श्रीकृष्णके स्वरूपके सदृश चिदानन्द स्वरूप हैं।

तत्त्ववस्तु—कृष्ण, कृष्णभक्ति प्रेमरूप। नाम-सङ्कीर्त्तन—सब आनन्द स्वरूप॥
(चै० च० आ० १।५४)

श्रीकृष्ण, प्रेमरूप श्रीकृष्ण-भक्ति एवं नाम-सङ्कीर्त्तन—ये सभी तत्त्व वस्तु हैं, एवं ये सभी आनन्द-स्वरूप हैं।

नाम और नामी अभिन्न होनेसे नामीकी तरह नाम भी पूर्ण है।

पूर्णः शुद्धो नित्यमुक्तोऽभिन्नत्वान्नामनामिनः

'पूर्ण' शब्दसे वही वस्तु समझी जाती है जिसमेंसे सम्पूर्ण वस्तु लेलेने पर भी सम्पूर्ण वस्तु अवशिष्ट रह जाय।

पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते ॥

पूर्ण हुआ असीम, सर्वव्यापक। उसके किसी भी अंशको विच्छिन्न कर लेना सम्भव नहीं। तथापि, जिसको उसका अंश बोलकर माना जाता है, उसमें भी पूर्णवस्तुका धर्म पूर्ण-रूपसे विराजित है; उसके माधुर्यादि उसके अंशवत् प्रतीत होनेवाली वस्तुमें भी पूर्णतम रूपसे विद्यमान रहते हैं; यही पूर्ण वस्तुका स्वरूपगत धर्म है। इस प्रकारकी पूर्ण वस्तु है केवल मात्र एक परब्रह्म श्रीकृष्ण एवं उनका अभिन्न स्वरूप श्रीनाम। इसीसे सम्पूर्ण नामके आस्वादनमें जिस पूर्ण माधुर्यका अनुभव होता है—नामके एक अंशमें, नामके एक पदमें, यहाँ तक कि एक अक्षरमें भी उसी पूर्ण माधुर्यका पूर्ण आस्वादन मिलता है। श्रीमन्महाप्रभु 'जगन्नाथ' बोलते हुए प्रेमावेशके वश पूर्ण नाम उच्चारण नहीं कर सके, केवल 'ज-ज-ग-ग' मात्र बोल पाये। इन एक या दो अक्षरोंके आस्वादनमें ही उनको 'जगन्नाथ'—इस सम्पूर्ण नामके पूर्णतम माधुर्यका आस्वादन मिला था। '**प्रतिपदं पूर्णामृतास्वादनम्**' के वाक्यमें इसी तात्पर्यका प्रकाश किया गया है।

नामका माधुर्य ऐसा चित्ताहारी है, कि एक बार उच्चारण करनेसे जिह्वा मानो उसको छोड़ ही नहीं सकती। इसीसे श्रीराधाजीने स्वयं कहा है :—

सइ केवा सुनाइल श्याम नाम,
ऐ नाम कानेर भीतर दिया मरमे पशिल गो।
आकुल करिल मोर प्राण॥

ना जानि कतेक मधु, श्याम नामे आछे गो, वदन छाड़िते नाहिपारे।
जपिते जपिते नाम, अवश करिल गो केमने पाइव सखि! तारे॥

हे सजनी ! 'श्याम' नाम किसने सुनाया ? यह नाम कानके भीतर जाकर मर्ममें प्रवेश कर गया और इसने मेरे प्राणोंको व्याकुल कर डाला। न जाने 'श्याम' नाममें कितना मधु है, मुख उसको छोड़ना ही नहीं चाहता। जपते जपते नामने मुझको विवश कर डाला। हे सखी ! मैं उसको कैसे पावूँगी ?

यह नाम अपना माधुर्य आस्वादन करानेके लिये बलवती लालसा जगाकर समस्त इन्द्रियोंको व्याकुल कर डालता है। इसीसे यह परम मधुर नाम जब जिह्वापर आविर्भूत होता है तब असंख्य जिह्वा पानेके लिये लालसा जगाता है, जब कर्णमें आविर्भूत होता है तब अर्बुद कर्ण पानेकी इच्छाको बलवती बना देता है और यह नाम जब हृदय प्राङ्गणके ऊपर नृत्य करता है तब सभी इन्द्रियोंकी क्रियाएँ स्तम्भित हो जाती हैं। यही बात पौर्णमासी देवीने नान्दीमुखीके निकट कही थी :—

तुण्डे ताण्डविनी रतिं वितनुते तुण्डावलीं लब्धये
कर्ण क्रोडकडम्बिनी घटयते कर्णार्बुदेभ्यः स्पृहाम् ।
चेतःप्राङ्गणसङ्गिनी विजयते सर्वेन्द्रियाणां कृतिं
नो जाने जनिता कियद्भिरमृतैः कृष्णेति वर्णद्वयी ॥

(विदग्धमाधव १।३३)

जो तुण्डाग्रमें (मुखाग्रमें) नृत्य आरम्भ करके तुण्डावली (अनेक मुख) प्राप्तिके लिए रति (तीव्र वासना) विस्तार करे, जो कर्ण पथमें अंकुरित होकर अर्वुद अर्वुद कर्णेन्द्रिय प्राप्तिकी इच्छा उत्पन्न करे एवं जो चित्त प्राङ्गणकी सङ्गिनी होकर समस्त इन्द्रियोंके व्यापारको पराजित करे ऐसे 'कृ' और 'ष्ण' ये दो अक्षर किस प्रकारके अमृतसे निर्मित हुए हैं, समझमें नहीं आता।

सर्वात्मके लिये स्नानकारी

(छ) **सर्वात्मस्नपनम्**—सर्व (समस्त) आत्मा (देह, मन, देह स्थित इन्द्रिय) के लिये स्नपन (जिसके द्वारा स्नान किया जाय, उसके) तुल्य। ग्रीष्मकालके मध्याह्नमें प्रखर सूर्य-किरणोंके बीच नंगे पैरों, अनावृत

देहमस्तकसे यदि कोई विस्तीर्ण रौद्र तप्त पथके ऊपरसे बहुत देर तक पैदल चलकर आवे, उस समय उसका देह भीतर-बाहरसे मानों जला जा रहा हो, ऐसे समय वह व्यक्ति यदि शीतल जलमें डूबकर स्नान करे एवं शीतल पानीय पान करे, तो भी उसकी ज्वाला सम्पूर्ण रूपसे दूर नहीं होती। किन्तु, श्रीकृष्ण-सङ्कीर्तनका परम स्निग्ध एवं अमृतनिन्दि सुमधुर रस—अनादिकालसे संसार-मरुभूमिमें भ्रमणशील त्रिताप-ज्वाला-दग्ध जीवके देह, मन, इन्द्रिय—देहके अति सूक्ष्मतम अंशको भी परिनिषिक्त—अभिसिञ्चित करके उसकी परम स्निग्धताका सम्पादन कर सकता है। श्रीकृष्ण-सङ्कीर्त्तन कृपा करके जब वाक्-इन्द्रिय जिह्वापर अपने-आपको प्रकट करता है, तब जिह्वा आनन्द रसमें डूब जाती है—यह सङ्कीर्त्तन चित्तमें विहार करके चित्तको भी आनन्दरसमें डुबो देता है—तब चित्तामें आनन्दकी तरङ्गें प्रवाहित होती रहती हैं। ये तरङ्गें चित्तसे समस्त इन्द्रियोंमें और समस्त देहमें व्याप्त होकर समस्त देहेन्द्रियको आनन्द रसमें अभिषिक्त कर देती हैं। केवल चित्त ही क्यों, नामरूपी अमृत जिस किसी भी इन्द्रियमें आविर्भूत होते ही अपनी मधुर रस-धारासे सब इन्द्रियोंको सम्यक् रूपसे आल्पावित कर देता है; समस्त इन्द्रियोंमें, एवं देहके प्रति रन्ध्रमें, प्रति अणुमें, परमाणुमें प्रवेश करके सबको सम्यक्रूपसे परिनिषिक्त और परिसिञ्चित कर देता है।

एकस्मिन्निन्द्रिये प्रादुर्भूतं नामामृतं रसैः
आप्लावयति सर्वाणीन्द्रियाणि मधुरैर्निजैः॥

(वृ०भा० २।३।१६२)

नामामृत सम्पूर्ण रसोंसे परिपूर्ण होकर एक इन्द्रियमें भी प्रादुर्भूत होता है तो अपने सुमधुर रससे सम्पूर्ण इन्द्रियोंको आप्लावित कर देता है।

इस प्रकार श्रीकृष्ण-सङ्कीर्त्तन हुआ सर्वात्म-तृप्तिजनक।

श्रीमन्महाप्रभुका प्रच्छन्न आशीर्वाद

श्रीकृष्ण-सङ्कीर्त्तनम्—श्रीकृष्ण सम्बन्धी सङ्कीर्त्तन; श्रीकृष्णके नाम, रूप, गुण, लीलादिका सङ्कीर्त्तन। नाम-सङ्कीर्त्तनके माहात्म्य-सम्बन्धमें इस

'चेतोदर्पण……' श्लोकका उल्लेख होनेसे इस श्लोकमें 'श्रीकृष्ण-सङ्कीर्त्तनम्' शब्दसे श्रीकृष्ण-नाम-सङ्कीर्त्तन ही लक्षित हुआ प्रतीत होता है। उक्त श्लोकके अनुवादमें भी **'श्रीकृष्ण-सङ्कीर्त्तनम्'** शब्दका अर्थ श्रीकृष्ण-नाम-सङ्कीर्त्तन ही किया गया है । अर्थात् श्रीकृष्ण, गोविन्द इत्यादि नामोच्चारण।

इस श्लोकमें जगतके जीवोंमें प्रति श्रीमन्महाप्रभुका एक आशीर्वाद भी प्रच्छन्न भावसे विराजमान प्रतीत हो रहा है। "**श्रीकृष्णसङ्कीर्त्तन विजयते**—श्रीकृष्णसङ्कीर्त्तन विशेष रूपसे जययुक्त होता है।" सङ्कीर्त्तनका माहात्म्य यदि जगतमें सर्वभावसे प्रचारित हो—जगतके सब लोग यदि सङ्कीर्त्तन करें; सङ्कीर्त्तनके फलसे यदि उनके चित्तकी मलिनता दूर हो; यदि उनके विशुद्ध चित्तमें भक्तिका आविर्भाव हो; उनके चित्तमें यदि आनन्द समुद्र उच्छ्वसित हो उठे; यदि नामके प्रति पदमें, प्रति अक्षरमें वे पूर्ण आनन्दका आस्वादन पा सकें; यदि उनके देह, मन, इन्द्रिय—देहके प्रति अणु-परमाणु नामामृत रससे सम्यक् रूपसे परिसिञ्चित हों—तभी कहा जायगा कि नाम-सङ्कीर्त्तन विशेष रूपसे जययुक्त हो रहा है। ऐसा होनेसे ही जगतके जीव नाम-सङ्कीर्त्तनके जय कीर्तनसे मुखरित हो सकते हैं। जिसके द्वारा इस प्रकार हो—यही मानों जगतके जीवके प्रति प्रभुका प्रच्छन्न आशीर्वाद है।

संकीर्त्तनका प्रभाव

'चेतोदर्पण……' श्लोकका मर्म दो पयारोंमें प्रकाशित है।

संकीर्त्तन हैते—पाप-संसार-नाशन ।
चित्त शुद्धि, सर्व्व भक्ति साधन उद्गम ॥

चै०च०अं० २०।१०

श्रीकृष्ण-नाम-संकीर्त्तनके प्रभावसे सब प्रकारके पापोंका एवं संसार-बन्धनका—त्रिताप ज्वालादि संसार दुःखोंका सम्यक् प्रकारसे नाश हो जाता है; पाप-संसार-नाशन शब्दसे 'भवमहादावाग्नि-निर्वापन' का मर्म व्यक्त हुआ है। नाम संकीर्त्तनके प्रभावसे चित्तकी माया-मलिनता दूर होती है, चित्तकी दुर्वासनादि अन्तर्हित होती हैं—यह **'चेतो दर्पण मार्जन'** शब्दका तात्पर्य है।

नाम संकीर्त्तनके प्रभावसे सर्वविध- भक्ति साधनका उद्‌गम अर्थात् उदय होता है। यहाँ सर्वभक्ति साधनके उद्‌गमकी बात कही गयी है, किन्तु भक्ति साधनके फलके उद्‌गमकी बात नहीं कही गयी। तात्पर्य यह है कि भक्ति-मार्गमें जिन-जिन साधनाङ्गोंका अनुष्ठान आवश्यक है, नाम संकीर्त्तनके प्रभावसे वे सब चित्तमें स्फुरित होते हैं एवं नाम संकीर्त्तन ही साधकके द्वारा वे समस्त अनुष्ठान करवा लेता है। नाम संकीर्त्तनके प्रभावसे चित्तकी मलिनता जब दूर हो जाती है, तब चित्त क्रमशः श्रीकृष्ण उन्मुख होता है एवं स्वतः ही नवविधा भक्तिका एवं लीला-स्मरणादिका अनुष्ठान करनेकी साधककी प्रवृत्ति जाग उठती है। उस समय साधक अत्यन्त आग्रह पूर्वक और आनन्द सहित उन सबका अनुष्ठान भी करता रहता है।

गुरुदेवसे श्रीकृष्ण-मन्त्रकी दीक्षा लिये बिना भी जो नाम-संकीर्त्तन करते रहते हैं, उनके चित्तमें भी 'सर्वसाधन भक्तिका उद्‌गम' हो जाता है। तब वे दीक्षाग्रहण पूर्वक नवविधा भक्तिका एवं लीला-स्मरणादिका अनुष्ठान करते रहते हैं। श्रीपाद सनातनसे साधन भक्तिके प्रसंगको कहते समय श्रीमन्महाप्रभुने सर्वप्रथम ही 'गुरुपदाश्रय दीक्षा'की बात कही थी।

कृष्ण प्रेमोद्‌गम, प्रेमामृत अस्वादन।
कृष्ण प्राप्ति, सेवामृतसमुद्रे मज्जन॥

चै०च०अं० २०।११

नाम संकीर्त्तनके फलसे श्रीकृष्ण-प्रेमका उदय होता है— **'आनन्दाम्बुधिवर्द्धनम्'** शब्दका यह तात्पर्य है।

नाम संकीर्त्तनसे प्रेमरूप अमृतका माधुर्य आस्वादित होता है—**'पूर्णामृतास्वादनम्'** शब्दका यह तात्पर्य है।

नाम संकीर्त्तनके फलसे श्रीकृष्णकी प्राप्ति होती है।

श्रीकृष्ण सेवाके लिये कीर्तनकारी आनन्दरूप समुद्रमें साधक निमग्न हो जाते हैं—**'सर्वात्मस्नपनं'** शब्द का यह मर्म है।

नाम्नामकारि बहुधा निजसर्वशक्ति-
स्तत्रार्पिता नियमितः स्मरणे न कालः ।
एतादृशी तव कृपा भगवन् ममापि
दुर्दैवमीदृशमिहाजनि नानुरागः ॥२॥

संस्कृत टीका—अकारि भगवता त्वया कर्त्तुभूतेनेति शेषः । इहि नाम्नि । चक्रवर्ती ।

अन्वय—नाम्नां (भगवन्नाम समूहका) **बहुधा** (मुकुन्द, गोविन्द हरि, पूतनारि इत्यादि बहुत प्रकारसे) **अकारि** (प्रचार किये हैं); **तत्र** (वहाँ—उन नामोंमें) **निजसर्वशक्तिः** (अपनी सम्पूर्ण शक्ति) **अर्पिता** (अर्पित हुई है); **स्मरणे** (उन नामोंके स्मरण विषयमें भी) **कालः** (समय—समय सम्बन्धी किसी भी प्रकारके) **न नियमितः** (नियम भी नहीं किये); **भगवन्** (हे भगवन्) ! **तव** (तुम्हारी) **एतादृशी** (इस प्रकार की ही) **कृपा** (कृपा है); **मम अपि** (मेरा भी) **ईदृशं** (इस प्रकारका) **दुर्दैवं** (दुर्दैव है कि) **इह** (इन नामोंमें) **अनुरागः** (अनुराग) **न अजनि** (नहीं जन्मा) ।

अनुवाद—भगवान्ने मुकुन्द, गोविन्द, हरि, पूतनारि इत्यादि बहुत प्रकारके अपने नामोंका प्रचार किया है; उन नामोंमें अपनी सम्पूर्ण शक्ति भी अर्पण कर दी है; उन नामोंके स्मरणके लिये समय सम्बन्धी कोई नियम भी नहीं; हे भगवन् ! इस प्रकारकी तुम्हारी कृपा है । किन्तु मेरा ऐसा दुर्दैव है कि ऐसे नाममें भी मेरा अनुराग नहीं उत्पन्न हुआ ।

इस श्लोकको व्याख्या तीन पयार छन्दोंमें की गई है ।

अनेक नामोंका प्राकट्य

अनेक लोकेर वाञ्छा अनेक प्रकार।
कृपाते करिल अनेक नामेर प्रचार।।

(चै०च०अं०२०।१३)

भिन्न-भिन्न लोगोंकी भिन्न-भिन्न रुचि होती है, इसीसे उनकी इच्छा भी भिन्न-भिन्न—अनेक प्रकार की होती हैं। जीवोंके प्रति कृपाके वशीभूत होकर श्रीकृष्णने अपने अनेक नाम—मुकुन्द, गोविन्द, हरि, पूतनारि इत्यादि प्रचारित किये।

जगतमें सब लोगोंकी रुचि या वासना एक-सी नहीं होती। एक-एक व्यक्ति एक-एक विषयकी कामना करता है। भगवान्‌के एक ही नाममें सबकी रुचि भी नहीं होती—एक-एक व्यक्ति एक-एक नाममें प्रीति रखता है। इसीसे उनके प्रति कृपा करके परम दयालु श्रीकृष्णने अपने अनेक प्रकारके नाम प्रकट किये—जिससे जिसकी जिस नाममें रुचि हो उसीको ग्रहण कर सकें। जो मुक्तिकी कामना करते हैं, उनको मुकुन्द नामका कीर्तन अच्छा लग सकता है; जो सर्वेन्द्रिय द्वारा श्रीकृष्ण-सेवाकी इच्छा करते हैं, हो सकता है उनको गोविन्द नाममें अधिक आनन्द प्राप्त हो; जो विघ्नादिसे उद्धारकी कामना करते हैं, हो सकता है उनको पूतनारि नाममें उल्लास मिले; इत्यादि कारणोंसे प्रत्येक ही अपनी-अपनी अभिरुचिके अनुसार भगवानका नाम-कीर्त्तन कर सकें; इसीसे भगवानने मुकुन्द, गोविन्द आदि अपने बहुतसे नाम प्रकट किये हैं।

श्रीभगवानके सभी नामोंकी समान शक्ति और समान महिमा है। तथापि, जिसकी जिस नाममें अभिरुचि हो, जिसकी जिस नाममें प्रीति हो उसी नामके कीर्तनमें उसको अधिक आनन्द होता है; अतः उसी नामका कीर्तन उसके लिए सुविधाजनक होता है। श्रीमद्भागवतके **"एवं व्रतः स्वप्रियनामकीर्त्या जातानुरागो द्रुतचित्त उच्चैः"** इत्यादि वाक्योंमेंसे भी स्वप्रिय—अपने को जो नाम प्रिय हो उसी नामके

कीर्त्तनकी बात जानी जाती है । श्रीश्रीहरिभक्तिविलास भी यही बताता है—

सर्वार्थशक्तियुक्तस्य देवदेवस्य चक्रिशः ।
यथाभिरोचते नाम तत् सर्वार्थेषु कीर्तयेत् ।। ११।१३४।।

वृहद्भागवतामृत भी यही बताता है--

सर्वेषां भगवन्नामानां समानो महिमापि चेत् ।
तथापि स्वप्रियेणाशु स्वार्थसिद्धिः सुखं भवेत् ।।

२।३।१६०।।

इस पयारमें श्लोकस्थ **'नाम्नामकारि बहुधा'** अशंका अर्थ किया गया है ।

नामग्रहणमें नियमकी उपेक्षा

खाइते-शुइते यथा-तथा नाम लय ।
देश-काल-नियम नाहिं सर्व्वसिद्धि हय ।।

(चै०च०अं०२०।१४)

भगवान ऐसे दयालु हैं कि कोई भी व्यक्ति किसी भी समय, किसी भी अवस्थामें अपने अभीष्ट नामका कीर्त्तन कर सकता है। इसीसे उनने नाम ग्रहणके निमित्त कोई भी नियमकी अपेक्षा नहीं रक्खी—खानेको बैठते समय, सोनेको जाते समय अथवा सोये-सोये भी पवित्र स्थान हो अथवा अपवित्र स्थान हो—कैसा भी स्थानमें क्यों न हो, अथवा कोई-सा भी समय क्यों न हो—श्रीभगवान्नाम-कीर्त्तन करनेसे ही समस्त अभीष्ट सिद्ध हो सकते हैं—परमकारुणिक भगवानने ऐसा ही नियम बनाया है ।

स्वपन् भुञ्जन् व्रजंस्तिष्ठन्नुत्तिष्ठंश्च वदंस्तथा ।
ये वदन्ति हरेर्नाम तेभ्यो नित्यं नमो नमः ।।

(ह०भ०वि०११।२०)

सोते हुए, खाते हुए, चलते हुए, बैठते हुए, उठते हुए, बात करते हुए भी जो हरिनाम उच्चारण करते हैं उनको बारम्बार नमस्कार है ।

नाम जहाँ-तहाँ भी लिया जा सकता है। नाम-ग्रहणके लिए स्थानकी पवित्रताकी कोई भी अपेक्षा नहीं। नाम-ग्रहणके सम्बन्धमें देश-कालका भी विचार नहीं है। जिस किसी स्थानमें जिस किसी भी समय नाम ग्रहण किया जा सकता है। उच्छिष्ठ मुख से, अथवा उच्छिष्ठ स्थानमें भी नाम लिया जा सकता है। प्रमाण—

न देशनियमस्तस्मिन् न कालनियमस्तथा।
नोच्छिष्ठादौ निषेधश्च हरेर्नामानि लुब्धकः॥

(ह०भ०वि०११।२०२ उद्धृत विष्णुधर्मोत्तर-वचन)

और भी—

न देशकालावस्थासु शुद्धयादिकमपेक्षते।
किन्तु स्वतन्त्रमेवैतन्नाम कामितकामदम्॥

(ह०भ०वि०११।२०४)

नाम स्वतन्त्र है, किसी भी विधि-निषेधके अधीन नहीं है; देश, काल अवस्था, और शुद्धि आदिकी अपेक्षा रहीं रखता। नाम सर्वाभीष्ट प्रद है।

इससे समस्त सिद्धि—अभिलाषा पूर्ण होती है।

इस पयारमें श्लोकस्थ **'नियमितः स्मरणेन न कालः'** अंशका अर्थ किया गया है।

नामकी पूर्ण शक्ति

सर्वशक्ति नामे दिलेन करिया विभाग।
आमार दुर्दैव, नामे नाहिं अनुराग॥

(चै० च० अं० २०।१५)

भगवानने अपने अनेक प्रकारके नाम प्रकट करके प्रत्येक नाममें अपनी समस्त शक्ति अर्पण करदी है, अर्थात् अपने सदृश सर्व-शक्ति

सम्पन्न बना दिया है । दान, व्रत, तपस्या, तीर्थ-गमन, राजसूय यज्ञ, अश्वमेध यज्ञ इत्यादि समस्त अनुष्ठानोंकी सर्व पाप हरने वाली शक्तिको भगवानने अपने नामकी कल्याणकारिणी शक्तिमें अन्तर्निविष्ट कर दिया है ।

दानव्रततपस्तीर्थ क्षेत्रादीनाञ्च याः स्थिताः ।
शक्तयो देव-महतां सर्वपापहराः शुभाः ।।
राजसूयाश्वमेधानां ज्ञानस्याध्यात्मवस्तुनः ।
आकृष्टाः हरिणा सर्वाः स्थापिताः स्वेषु नामसु ।।

(ह०भ०वि०११।१९६ उद्घृत स्कन्दपुराणवचनम्)

यह **'निज-सर्वशक्तितत्रार्पिता'** अंशका अर्थ है । अब श्लोकस्थ **'एतादृशी तव कृपा···'** इत्यादि बाकी दो चरणोंका अर्थ करते हैं ।

श्रीमन्महाप्रभु दैन्यपूर्वक कहते हैं कि भिन्न-भिन्न लोगोंकी भिन्न-भिन्न रुचि और अभिप्राय जानकर, प्रत्येककी रुचि और अभिप्रायके अनुरूप अपने बहुबिध नाम परम कारुणिक भगवानने प्रकट किये; और इन सब नामोंमें अपनी सम्पूर्ण शक्ति भी अर्पण की—उनका कोई भी नाम उन्हींकी तरह अनन्त अचिन्त्य-शक्ति-सम्पन्न है । इन सब नामोंके ग्रहणके लिये देश-कालादि किसी प्रकारकी अपेक्षा भी नहीं रक्खी । किसी भी व्यक्ति द्वारा , किसी स्थानमें भी, किसी भी समय भगवानका कोई भी नाम ग्रहण किये जाने पर उसकी अभीष्ट सिद्धि हो सकती है । इससे बढ़कर जीवके प्रति भगवानकी करुणाका प्रकृष्ट दृष्टान्त और क्या हो सकता है ? किन्तु, भगवानकी इतनी कृपा होने पर भी, उनके द्वारा इतना सुयोग दिये जाने पर भी, मेरा ऐसा दुर्भाग्य है कि भगवानके नाममें मेरा अनुराग उत्पन्न नहीं हुआ—मैं नाम नहीं ले सका—नामके फलसे भी वञ्चित रहा ।

'नाममें अनुराग'का अर्थ है—नाममें प्रीति, नाम-सङ्कीर्त्तनके लिये उत्कण्ठा ।

श्रीकृष्ण-रति गाढ़ताको प्राप्त होते-होते प्रेम, स्नेह, मान, प्रणय, राग, अनुराग, भाव, महाभावादि स्तरोंका अतिक्रमण कर जाती है। ये प्रेम स्नेहादि हुए कृष्ण-रतिके स्थाई भाव। साधक देहसे जीवको प्रेम तककी स्थिति प्राप्त हो सकती है, उससे अधिक नहीं होती। अतः स्थायी भाव अनुरागकी बात तो दूर रही, स्नेह-मानादि भी साधक देहमें दुर्लभ हैं। इसीसे साधक देहसे 'अनुराग'की बात कहनेमें भजनके विषयमें उत्कण्ठाकी बात ही समझमें आती है, स्थायी भाव वाला अनुराग नहीं। उज्ज्वलनीलमणिके कृष्णवल्लभा प्रकरणमें—

तद्भावबद्धरागा ये जनास्ते साधने रताः।
तद्योग्यमनुरागौयं प्राप्योत्कण्ठानुसारतः ॥३१॥

श्लोककी टीकामें श्रीपाद विश्वनाथ चक्रवर्तीने भी यही कहा है— **"अनुरागौयं रागानुगीय-भजनौत्कण्ठ्यं, न तु अनुराग-स्थायिनं साधकदेहे अनुरागोत्पत्यसम्भवात् ॥** साधक देहमें स्थायी भाव अनुरागकी उत्पत्ति असम्भव होनेसे इस श्लोकमें अनुरागोयं-शब्दसे रागानुगीय-भजन-विषयमें उत्कण्ठा ही सूचित होती है।"

सभी नामोंके माहात्म्यकी समानता

'नाम्नामकारि…" आदि श्लोकका भाव ऊपर १३, १४, और १५ संख्यक पयारोंसे जाना जाता है, कि भगवानके अनेक नाम हैं और सभी नामोंमें भगवानने अपनी समस्त शक्ति दान करदी है। अतः सभी नामोंमें समान शक्ति है, समान माहात्म्य है—यही समझा जाता है। परन्तु किसी-किसी शास्त्र प्रमाण द्वारा किसी-किसी नामके वैशिष्ट्यकी बात दृष्टिगोचर होती है। पद्मपुराणके उत्तर-खण्डमें वृहद्विष्णुसहस्रनाम स्तोत्रसे यह जाना जाता है कि एक 'राम' नाम सहस्र नामके बराबर है।

राम-रामेति रामेति रमे रामे मनोरमे।
सहस्रनामभिस्तुल्यं रामनाम वरानने ॥ ७२।३३५ ॥

इससे यह जाना गया, कि भगवानके अन्यान्य सहस्रनाम कीर्त्तनका जो माहात्म्य है, एक बार राम नाम कीर्त्तनका भी वही माहात्म्य है । लघु भागवतामृत (५।३५४)-उद्धृत ब्रह्माण्ड पुराणके वचनसे जाना जाता है कि तीन बार सहस्रनाम कीर्त्तनका (अर्थात् तीन बार रामनाम कीर्त्तनका) जो माहात्म्य है, श्रीकृष्ण नामके एक बार कीर्त्तनका वही माहात्म्य है ।*

---

*हिन्दू धर्मकी यह विशेषता है कि वह सबको एक लाठीसे नहीं हाँकता; सबके लिये एक प्रकारकी उपासना, एक ही मार्ग अथवा एक ही उपास्य अथवा पथप्रदर्शक या पैगम्बरकी मान्यताका विधान नहीं करता । मनुष्योंकी प्रकृति अथवा रुचि एवं संस्कार भिन्न-भिन्न होते हैं । कुछ लोग कर्मप्रवण होते हैं, कुछ ज्ञानप्रधान अथवा बुद्धि-प्रधान तथा कुछ हृदय-प्रधान होते हैं । ऐसे लोगोंके लिये ही क्रमशः कर्मयोग, ज्ञानयोग अथवा निर्गुण-निराकारकी उपासना एवं भक्तियोग अथवा उपासना मार्गकी व्यवस्था की गयी है । इसी प्रकार भक्तिमार्ग या उपासना-मार्गके अनुयायियोंके लिये भगवान् विभिन्न रूपोंमें प्रकट होकर भक्तोंको अपनी ओर आकर्षित करते हैं और अपनी विशिष्ट उपासना द्वारा उन्हें चरमलक्ष्य तक पहुँचाते अथवा अपने स्वरूपमें लीन करते हैं । सबके अलग-अलग रूप, अलग-अलग नाम, अलग-अलग आयुध, अलग-अलग प्रकृति एवं अलग-अलग चरित्र होते हैं । उनमें तत्वतः कोई अन्तर न होने पर भी अपना-अपना वैशिष्ट्य होता है और उस वैशिष्ट्यके प्रति सबका मन समान रूपसे आकर्षित नहीं होता । इसीलिये विभिन्न सम्प्रदायों एवं उपासना मार्गोंकी सृष्टि हुई । सबके अलग-अलग मन्त्र, अलग-अलग उपास्य, अलग-अलग पूजा-पद्धति और अलग-अलग लक्ष्य होते हैं । इन भिन्न-भिन्न भगवत्स्वरूपोंकी महिमा तथा उपासनाका वर्णन करनेके लिये भिन्न-भिन्न पुराणों एवं आगमोंकी रचना हुई, जिनमें स्थान-स्थान पर सबकी तात्विक एकताका वर्णन करते हुए भी एक विशिष्ट रूपका विशिष्ट रूपसे प्रतिपादन किया गया है । जिस पुराण अथवा आगममें जिस भगवत्स्वरूपकी उपासना बतायी गयी है, वहाँ उसी स्वरूपको सर्वोपरि-परात्पर बताया गया है और अन्य सभी भगवत्स्वरूपोंका गौण या उनके सेवकरूपमें वर्णन किया गया है । बात भी मनोवैज्ञानिक दृष्टिसे सर्वथा युक्तियुक्त एवं आवश्यक है । जिस स्वरूपकी भी उपासक उपासना करता है, उसको सर्वोपरि मानकर उपासना करनेपर ही उसे उसके माध्यमसे परात्पर तत्वकी उपलब्धि हो सकती है । उपास्यमें किसी प्रकारकी न्यूनता मानने पर उसकी उपासना

सहस्रनाम्नां पुण्यानां त्रिरावृत्त्या तु यत्फलम् ।
एकावृत्त्या तु कृष्णस्य नामैकं तत् प्रयच्छति ।।

अन्य प्रमाणसे और भी जाना जाता है कि रामनामसे केवल मुक्ति प्राप्त होती है और कृष्णनामसे श्रीकृष्ण-प्रेम मिलता है। श्रीपाद सनातन गोस्वामी संकलित 'श्रीश्रीमथुरा माहात्म्य' नामक ग्रन्थमें पद्मपुराण, पाताल खण्डसे निम्नलिखित श्लोक (संख्या ११४ से १२६ तक) उद्धृत हुए हैं।

से सर्वोच्च फल कैसे मिलेगा ? भगवान् तो अणु-अणुमें व्याप्त एवं सभी रूपोंमें प्रकट होनेके कारण जिस रूपमें उपासक उन्हें प्राप्त करना चाहेगा, उसी रूपमें वे उसे मिल जायेंगे। उपासककी भावना ही फल देनेवाली होती है । प्रतिमा-पूजनका भी यही रहस्य है। इसी सिद्धान्तको लेकर हिन्दूधर्ममें पत्नीको पतिमें एवं शिष्यको गुरुमें भगवद्भाव रखनेकी आज्ञा दी गयी है और इसी आधारपर शास्त्रोंमें सर्वत्र भगवद्भावकी—चराचरमें अपने इष्टको देखनेकी प्रेरणा दी गयी है। इसी आशयको लेकर वैष्णव आगमों एवं पुराणोंमें कहीं भगवान् नारायण अथवा महाविष्णुको, कहीं वृन्दावनविहारी श्रीकृष्णको, कहीं साकेतविहारी श्रीरामको, शैव आगमों एवं पुराणोंमें भगवान् सदाशिवको, शाक्त आगमों एवं देवीभागवतादि पुराणोंमें आद्यशक्ति जगदम्बाको, सूर्यपुराण आदिमें भगवान् सूर्यको और गणेशपुराण आदिमें भगवान् गजवदनको परात्पर तत्व माना गया है। माना ही नहीं गया है, उपासकोंको यथाविधि अपने उपास्य विग्रहकी उपासना करनेपर वैसा अनुभव एवं साक्षात्कार भी हुआ है। जो बात भगवत्स्वरूपोंके सम्बन्धमें ऊपर कही गयी है, वही भगवन्नामोंके सम्बन्धमें भी जाननी चाहिये। कृष्णनामका जप-कीर्त्तन करने वालोंको कृष्णनामको ही सम्पूर्ण भगवन्नामोंमें श्रेष्ठ मानकर जप करना चाहिये, तभी उन्हें उसके द्वारा परात्पर श्रीकृष्णकी उपलब्धि सम्भव है। यही बात अन्य भगवन्नामोंके सम्बन्धमें भी है। इस तत्वको हृदयंगम कर लेनेपर जहाँ रामनामको सर्वोपरि सहस्रनामके समान फलदायक बताया गया है और जहाँ श्रीकृष्णनामको रामनामकी अपेक्षा भी ऊँचा बताया गया है, उन सभी स्थलोंकी संगति बैठ जाती है। इसी विवेचनकी पृष्ठ-भूमिपर उपर्युक्त श्रीकृष्ण नामकी महिमाको समझनेपर उसमें कहीं भी साम्प्रदायिक संकीर्णता अथवा अतिशयोक्ति—अर्थवादकी आशंका नहीं रह जायगी। पाठकोंसे हमारा यही विनीत निवेदन है।

—प्रकाशक

श्रीमहादेवजीके मुखसे मथुरा-माहात्म्य श्रवण करनेके पश्चात् श्रीपार्वतीजीने प्रश्न किया—

उक्तोऽद्भुतश्च महिमा मथुराया जटाधर !
मुनिर्भुवो वा सरितः प्रभावः केन वा विभो ?
कृष्णस्य वा प्रभावोऽयं संयोगस्य प्रतापवान् ? (११४)

श्रीमहादेवजीने उत्तर दिया—

न भूमिकाप्रभावश्च सरितो वा वरानने ।
ऋषीणां न प्रभावश्च प्रभावो विष्णुतारके ।।
यथा पारकचिच्छक्तेरुभे तत्पदकारके ।
तदेव शृणु भो देवि ! प्रभावो येन वर्तते ।।
श्रीकृष्णमहिमा सर्वश्चिच्छक्तेर्यः प्रवर्त्तते ।
तारकं पारकं तस्य प्रभावोऽयमनाहतः ।।
तारकाज्जायते मुक्तिः प्रेमभक्तिश्च पारकात् ।।
(११५-११७)

तत्रैव श्रीभगवद्वाक्यम्—

उभौ मन्त्रावुभे नाम्नी मदीय-प्राणवल्लभे !
नाना नामानि मन्त्राश्च तन्मध्ये सारमुच्यते ।।
अज्ञातमथवा ज्ञातं तारकं जपते यदि ।
यत्र तत्र भवेन्मृत्युः काश्यान्तु फलमादिशेत् ।।
वर्तते यस्य जिह्वाग्रे स पुमांल्लोकपावनः ।
छिनत्ति सर्वपापानि काशीवासफलं लभेत् ।।

इति तारक मन्त्रोऽयं यस्तु काश्यां प्रवर्त्तते ।
स एव माथुरे देवि ! वर्ततेऽत्र वरानने !!
अथ पारकमुच्येत यथामन्त्रं यथाबलम् ।
पारकं यत्र वर्तेत ऋद्धिसिद्धिसमागमः ।।
पूज्यो भवति त्रैलोक्ये शतायूर्जायते पुमान् ।
अष्टसिद्धिसमायुक्तो वर्तते यत्र पारकम् ।।
पारकं यस्य जिह्वाग्रे तस्य सन्तोषवर्तिता ।
परिपूर्णो भवेत् कामः सत्यसङ्कल्पता तथा ।।
द्विविधा प्रेमभक्तिस्तु श्रुता दृष्टा तथैव च ।
अखण्ड-परमानन्दस्तद्गतो ज्ञेयलक्षणः ।।
अश्रुपातः क्वचिन्नृत्यं क्वचित् प्रेमातिविह्वलः ।
क्वचित्तस्य महामूर्च्छा मद्गुणो गीयते क्वचित् ।।

(११८।१२६)

इन सब प्रमाणोंसे जो जाना गया उसका सार मर्म यह है—चिच्छक्ति से ही भगवानकी महिमा और उनके नामकी महिमा प्रकट होती है । उनके जितने नाम और मन्त्र हैं, उनमें तारक (रामनाम) एवं पारक (कृष्णनाम) ही सार होते हैं । तारक (रामनाम) जपके फलसे मुक्ति प्राप्त होती है, काशीवास होता है और पारक (कृष्णनाम) जपके फलसे प्रेमभक्ति प्राप्त होती है । जो लोग पारक (कृष्णनाम) जपते हैं वे प्रेम विह्वल होकर कभी तो अश्रुपात करते हैं, कभी नृत्य करते हैं, कभी प्रेममूर्च्छाको प्राप्त होते हैं और कभी भगवद्गुण कीर्त्तन करते हैं ।

इन सब उक्तियोंसे जाना जाता है कि सब भगवन्नामोंकी समान महिमा नहीं है । इसका क्या समाधान है ? श्रीपाद सनातन गोस्वामी ने इसका निम्नलिखित प्रकारसे समाधान किया है ।

श्रीहरिभक्तिविलास—

श्रीमन्नाम्नाञ्च सर्वेषां महात्म्येषु समेष्वपि ।
श्रीकृष्णस्यैवावतारेषु विशेषः कोऽपि कस्यचित ।।

(११।२५७)

समस्त भगवन्नामोंकी समान महिमा होने पर भी भगवत्स्वरूप-समूहके बीच श्रीकृष्णके किसी न किसी नामकी कोई न कोई विशेषता है ।

इस श्लोककी टीकामें श्रीपाद सनातन गोस्वामी लिखते हैं—

"समान्यतो नाम्नां सर्वेषामपि माहात्म्यं लिखित्वा इदानीं विशेषतो लिखन् तत्र माहात्म्यस्य साम्येऽपि किञ्चित् विशेषं दृष्टान्तेन साधयति । श्रीमदिति श्रीमतो भगवतः श्रीमतां वा अशेषशोभासम्पत्यतिशययुक्तानां नाम्नां कस्यचित् नाम्नः कोऽपि माहात्म्यविशेषोऽस्ति । ननु चिन्तामणेरिव भगवन्नाम्नां महिमा सर्वोऽपि सम एव उचित इत्याशङ्क्य दृष्टान्तेन साम्येऽपि किञ्चिद् विशेषं दर्शयति कृष्णस्यैवेति । यथा श्रीनृसिंहरघुनाथादीनां महावताराणां सर्वेषां भगवत्तया साम्येऽपि कृष्णस्तु भगवान् स्वयमित्युक्त्या कृष्णस्यावतारत्वेऽपि साक्षाद्भगवत्त्वेन कश्चिद् विशेषो दर्शितस्तद्वदिति । एतच्च श्रीधरस्वामिपादै व्याख्यातम् । ** । पूर्वं बहुविध-कामापहतचित्तान् प्रति तत्तत्कामसिद्ध्यर्थं तत्तन्नामविशेष-माहात्म्यं लिखितम्, अत्र च सर्वफलसिद्धये नामविशेष माहात्म्यमिति भेदो द्रष्टव्यः ।"

इस टीकाका सार मर्म इस प्रकार है—"श्रीरामनृसिंहादि अनन्त भगवत्स्वरूप अवतार हैं । वे सभी भगवान् हैं । अतः भगवान् दृष्टिसे श्रीराम-नृसिंहादि एवं श्रीकृष्ण—ये सभी समान हैं । लेकिन भगवत् दृष्टिसे सभी समान होने पर भी '**श्रीकृष्णस्तु भगवान् स्वयम्**'—इस प्रमाणके अनुसार उन सबमें श्रीकृष्णका कुछ विशेषत्व है—वे स्वयं भगवान् हैं, यही उनका विशेषत्व है, अन्य भगवत् स्वरूपोंमें कोई भी स्वयं भगवान् नहीं है । इसी प्रकार श्रीराम-नृसिंहादिका नाम एवं श्रीकृष्णका नाम—भगवान्नाम

की दृष्टिसे ये सभी नाम समान हैं; इन सब भगवन्नामोंके बीच श्रीकृष्ण नामका विशेषत्व है—श्रीकृष्णका नाम हुआ 'स्वयं भगवान्'का नाम। राम-नृसिंहादि नाम भगवन्नाम अवश्य हैं किन्तु 'स्वयं भगवान्' का नाम नहीं; यही श्रीकृष्ण नामकी विशेषता है।

अनन्त भगवत्-स्वरूप-समूह हुए अखिल-रसामृत-वारिधि श्रीकृष्णके ही अनन्त-रस-वैचित्रीके मूर्त्तरूप; वे सभी श्रीकृष्णके विग्रहके बीच अवस्थित हैं। "**एकोऽपि सन् यो बहुधावभाति** (श्रुति)। एक ही विग्रह नाना आकार रूप धारण करता है। '**बहु मूर्त्त्येकमूर्तिकम्**' 'वे सभी नित्य एवं स्वरूपसे पूर्ण हैं। **सर्वे पूर्णाः शाश्वताश्च ।।**' शक्ति विकाशके पार्थक्यानुसार ही पार्थक्य है। श्रीरामचन्द्रमें शक्ति समूहका एक प्रकारका विकाश है, श्रीनृसिंह देवमें और एक प्रकारका विकाश है, श्रीनारायणमें और एक प्रकारका विकाश है, इत्यादि। किन्तु 'स्वयं भगवान्' श्रीकृष्णमें सर्व-शक्तिका सर्वातिशायी विकाश है। अन्यान्य स्वरूपोंमें शक्ति-समूहका आंशिक विकाश है; इसीसे अन्यान्य स्वरूपोंको श्रीकृष्णका अंश कहा जाता है।

नाम और नामी अभिन्न होनेसे राम-नाम और राम-स्वरूप भी अभिन्न हैं। अतः श्रीरामचन्द्र-स्वरूपकी जो महिमा है उनके राम-नामकी भी वही महिमा है। इसी प्रकार जिस किसी भी भगवत्-स्वरूपकी जो महिमा है, उनके नाम की भी वही महिमा है। स्वयं भगवान् होनेके कारणोंसे श्रीकृष्णमें सर्व-शक्तिका पूर्णतम् विकास होनेसे उनके नाममें भी सर्वनाम महिमाका पूर्णतम विकाश है। श्रीकृष्ण स्वयं भगवान् हैं इसलिये उनका नाम भी स्वयं नाम है। स्वयं भगवान् श्रीकृष्णमें जिस प्रकार दूसरे सभी भगवत्-स्वरूप अवस्थित हैं, अतः एक श्रीकृष्णकी पूजासे ही जैसे अन्य सबकी पूजा हो जाती है, उसी प्रकार श्रीकृष्णके नाममें भी अन्य सभी भगवत्-स्वरूपोंका नाम अवस्थित है; श्रीकृष्णके नामके उच्चारणसे दूसरे सभी भगवत्-स्वरूपोंके नामोच्चारण हो जाते हैं, और दूसरे सभी भगवत्-स्वरूपोंके नामोच्चारणका फल मिल जाता है। यही बात श्रीपाद-सनातन गोस्वामीकी पूर्वोद्धृत टीकाके शेषांशमें बतायी गयी है। "**पूर्वं बहुविध कामापहृतचित्तान् प्रति तत्तत्कामसिद्ध्यर्थं तत्तन्नाम-**

विशेष-माहात्म्यं लिखितम्, अत्र च, सर्वफल सिद्धये नामविशेष माहात्म्य-मिति भेद :—सकाम व्यक्तियोंमें भिन्न-भिन्न लोगोंकी भिन्न-भिन्न कामनाएँ होती हैं। इन सब भिन्न-भिन्न कामनाओंकी सिद्धके लिये पूर्वमें भिन्न-भिन्न नामोंके माहात्म्यकी महिमा—किस नामके कीर्त्तनसे कौनसी कामना सिद्ध होती है, वह महिमा लिखी जा चुकी है।* अब सर्व-फल-सिद्धिके निमित्त नाम-विशेषका—श्रीकृष्ण-नामका माहात्म्य लिखा जाता है अर्थात् श्रीकृष्ण नाम सभी भगवत् स्वरूपोंके नामका फल देनेमें समर्थ है। दूसरे भगवत्-स्वरूपोंके नामोंकी अपेक्षा श्रीकृष्ण नामका यही पार्थक्य है। "सब नामोंका समान माहात्म्य होने पर भी श्रीकृष्ण-नामका यही विशेषत्व है।

"सत्त्ववतारा बहवः पङ्कजनाभस्य सर्वतो भद्राः। कृष्णादन्यः को वा लतास्वपि प्रेमदो भवति।" इस प्रमाणके बल पर भगवानके अनन्त स्वरूप रहने पर भी जिस प्रकार श्रीकृष्णके अतिरिक्त और

---

*(मूल टीका ग्रन्थ अन्त्य लीला पृष्ठ ७००)

वराह पुराणमें बताया है—

नारायणच्युतानन्तः वासुदेवेति यो नरः।
सततं कीर्त्तयेद् भूमि याति मल्लयतां स हि॥

(ह०भ०वि० ११।२०८ उद्धृत प्रमाण)

भगवान् कहते हैं—"हे भूमि! जो व्यक्ति निरन्तर 'हे नारायण! हे अच्युत! हे वासुदेव!' ये सब नाम कीर्त्तन करते हैं वे मेरे साथ सायुज्य-मुक्ति प्राप्त करते हैं।"

गरुड़ पुराणमें भी बताया है—

किं करिष्यति सांख्येन किं योगैर्नरनायक।
मुक्तिमिच्छसि राजेन्द्र कुरु गोविन्दकीर्त्तनम्॥

(ह०भ०वि० ११।२०८ उद्धृत प्रमाण)

हे राजेन्द्र! सांख्य-योग या अष्टाङ्ग-योग क्या करेंगे? यदि मुक्तिकी इच्छा करते हो, तो गोविन्दनाम-कीर्त्तन करो।

कोई भी स्वरूप प्रेम दान नहीं कर सकते—भगवत्ताके हिसावसे सब भगवत्-स्वरूप समान होने पर भी, जिस प्रकार यह भगवान् श्रीकृष्ण-चन्द्रका ही एक वैशिष्ट्य है—उसी प्रकार श्रीकृष्ण और उनका नाम अभिन्न होनेसे यही सूचित होता है कि अनन्त भगवत्-स्वरूपोंके अनन्त भगवन्नाम रहने पर भी, एवं उन सभी नामोंका माहात्म्य समान होने पर भी स्वयं भगवान श्रीकृष्णका नाम ही प्रेम दे सकता है, यह भी श्रीकृष्ण नामका एक वैशिष्ट्य है।

एक उदाहरणके द्वारा समानतामें वैशिष्ट्य वस्तु बतानेका प्रयत्न किया जाता है। किसी कालेजमें कई अध्यापक हैं, एक व्यक्ति अध्यक्ष भी है। अध्यक्ष भी एक अध्यापक है। अध्यापककी दृष्टिसे वे सभी समान हैं। इस समानताके बीच भी अध्यापकोंमें परस्परके बीच वैशिष्ट्य है—एक-एक व्यक्ति एक-एक विषयका अध्यापक है; सभी एक ही विषयके अध्यापक नहीं हैं। उन सबके मध्य भी अध्यक्षकी एक विशेषता है—वे अध्यापक तो हैं ही, अध्यक्ष भी हैं। अध्यक्षकी दृष्टिसे कालेजके परिचालनमें एवं अध्यापकोंके परिचालनमें भी उनकी विशेष क्षमता है। उनका यह विशेषत्व हुआ समानताके बीच विशेषत्व। इसी प्रकार सब भगवन्नामोंका माहात्म्य समान होते हुए भी स्वयं भगवान् श्रीकृष्णके नामका एक अपूर्व वैशिष्ट्य है। यही श्रीहरिभक्तिविलास एवं श्रीपाद सनातन गोस्वामीका समाधान है।

'नाम संकीर्त्तन कलौ परम उपायः'—इस वाक्यसे साधन-भजनके सब प्रकारके फलोंमें 'परम फल—प्रेम' की प्राप्तिके उपायके सम्बन्धमें ही प्रभुने विशेष लक्ष्य रखा, ऐसा लगता है; क्योंकि वे अवतीर्ण हुए हैं—प्रेमदानके लिये एवं प्रेम-प्राप्तिका उपाय जाननेके लिये। **'चेतोदर्पण…'** श्लोकके **'विद्यावधूजीवनम्'** **'आनन्दाम्बुधि वर्द्धनम्'** एवं **'पूर्णामृता स्वादनम्'** इत्यादि शब्दोंसे भी प्रेम ही सूचित होता है। इसके बादके **'तृणादपि सुनीचेन……'**, **'न धनम् न जनम्……'**, **'अयि नन्दतनुज……'**, **'नयनं गलदश्रुधारया…'**, इत्यादि श्लोकोंसे भी प्रेम ही प्रभुका लक्ष्य है—यही जाना जाता है। किन्तु प्रेम दे सकते हैं—एक मात्र स्वयं भगवान् और उनका

नाम। अतः प्रभुने जो नाम-सङ्कीर्त्तनका उपदेश दिया है, वह स्वयं भगवान् श्रीकृष्णके नामके सङ्कीर्त्तनका है, यह सहज ही समझमें आ जाता है। पूर्व वर्णित पयारछन्द *'कृपाते करिल अनेक नामेर प्रचार'* के वाक्योंसे एवं **'नाम्नामकारि……'** इत्यादि श्लोकमें जो अनेक नामोंकी बात है एवं उपरोक्त अन्य पयारछन्दके *'सर्व्वशक्ति नामे दिलेन करिया विभाग'* वाक्यमें भी स्वयं भगवान् श्रीकृष्णके स्वयं-भगवत्ता-सूचक अनेक नामोंके बीच ही 'श्रीकृष्ण' नामकी समस्त शक्ति सभी नामोंमें सञ्चारित हुई है, यही मानों प्रभुका अभिप्राय है—ऐसा प्रतीत होता है। पूर्वोद्धृत **'सहस्रनाम्नां पुण्यानाम्…'** इत्यादि श्लोकके अन्तर्गत **'कृष्णस्य नामैकम्'** अंशकी टीकामें श्रीपाद सनातन गोस्वामीने भी लिखा है—"**कृष्णस्य कृष्णावतार** सम्बन्धी **नामैकमपि**—श्रीकृष्णावतार सम्बन्धी एक नाम भी।" इससे यह समझमें आया है कि श्रीकृष्ण नामके वैशिष्ट्यकी जो बात कही गई है वह वैशिष्ट्य (प्रेम दातृत्वादि) केवल 'श्रीकृष्ण' नामका ही है, सो बात नहीं, बल्कि श्रीकृष्णके अवतार सम्बन्धी प्रत्येक नामका है। श्रीकृष्ण जब ब्रह्माण्डमें अवत्तीर्ण हुए थे, तब अनेक लीलाओंके उपकरणसे उनके नाना प्रकारके नाम प्रकट हुए थे, वे सभी होते हैं—कृष्णावतार सम्बन्धी नाम; जैसे—कृष्ण, गोविन्द, दामोदर, माधव, गिरिधारी, नन्द-नन्दन, यशोदा-नन्दन इत्यादि। इन सब नामोंमें प्रत्येक ही श्रीकृष्णके साथ अभिन्न हैं; प्रत्येकमें ही श्रीकृष्णकी एवं श्रीकृष्ण नामकी समस्त शक्ति, समस्त माधुर्य आदि, प्रेम-दायकता आदि संचारित हैं। इन समस्त नामोंमें किसी भी एकके कीर्त्तनसे सर्व-सिद्धि-लाभ, यहाँ तक कि श्रीकृष्ण-प्रेम एवं श्रीकृष्ण-सेवा तककी प्राप्ति हो सकती है।

नाम-ग्रहणके सम्बन्धमें देश-काल आदिकी अपेक्षा न रहने पर भी एवं हेला-श्रद्धासे नाम ग्रहण करने पर भी नामके फल मोक्षादि पाये जाने पर भी, नामका मुख्य फल 'प्रेम' पानेके लिये नाम-ग्रहणके समय चित्तकी एक विशेष अवस्था होनेकी आवश्यकता है; चित्तकी इस अवस्थाकी बात—किस प्रकारसे नाम ग्रहण करनेसे कृष्ण-प्रेमकी प्राप्ति हो सकती है वह—अगले श्लोक **'तृणादपि ……'** में बतायी गयी है।

तृणादपि-श्लोककी व्याख्या

तृणादपि सुनीचेन तरोरिव सहिष्णुना ।
अमानिना मानदेन कीर्त्तनीयः सदा हरिः ॥३॥

अन्वय—तृणादपि (तृणकी अपेक्षा भी) **सुनीचेन** (सुनीच), **तरोरिव** (तरुके सदृश) **सहिष्णुना** (सहिष्णु), **अमानिना** (सम्मानके लिये अभिलाषा-शून्य), **मानदेन** (दूसरोंके प्रति सम्मान-प्रदर्शनकारी) [जनेन] (व्यक्ति द्वारा) **हरिः** (हरि--श्रीहरिनाम) **सदा** (सर्वदा) कीर्त्तनीयः (कीर्त्तनीय है)।

इस श्लोकको व्याख्या पाँच पयार छन्दोंमें की गयी है। पहिले पयारके पूर्वार्द्ध में श्लोकके पहिले चरणकी व्याख्या है। दूसरे चरणकी व्याख्या पहिले पयारके उत्तरार्द्ध में और दो और पयारोंमें है। इसके बाद एक पयारमें तीसरे चरणकी व्याख्या है और एक पयारमें चौथे चरणकी। यथा—

उत्तम हञा आपनाके माने 'तृणाधम'।
दुइ प्रकारे सहिष्णुता करे वृक्षसम ॥
वृक्ष जेन काटिलेह किछु ना बोलय।
सुखाइया मैले कारे पानी ना मागय ॥
जेइ जे मागये, तारे देय आपन धन।
घर्म्म-वृष्टि सहे, आनेर करये रक्षण ॥
उत्तम हञा वैष्णव हबे निरभिमान।
जीवे सम्मान दिबे जानि कृष्ण-अधिष्ठान ॥

एइ मत हञा जेइ कृष्ण नाम लय ।
कृष्णेर चरणे तारे प्रेम उपजय ।।

चै. च. अं. २०।१७-२१

उत्तम होकर भी अपनेको तृणसे भी तुच्छ माने। वृक्षोंके समान दो प्रकारसे सहिष्णु बने। जैसे वृक्ष काटे जाने पर भी कुछ नहीं कहता और सूख कर मर जाने पर भी किसीसे पानी नहीं माँगता, कोई कुछ भी माँगता है तो उसको अपनी सम्पत्ति दे देता है और गर्मी तथा वर्षा सहकर भी दूसरोंकी रक्षा करता है। वैष्णव उत्तम होकर भी अभिमान शून्य हो और श्रीकृष्णका अधिष्ठान जानकर जीव मात्रको सम्मान दे। इस प्रकार बनकर जो श्रीकृष्ण नाम लेता है उसमें श्रीकृष्ण-चरणोंके प्रति प्रेमका प्रादुर्भाव होता है।

तृणकी अपेक्षा अपनेको हेय मानना

(१) '**तृणादपि सुनीचेन**' तृणकी अपेक्षा भी तुच्छ होकर भगवन्नाम लेना होगा। *'उत्तम हञा आपनाके माने तृणाधम'*—उत्तम होकर—धन, जन, कुल, मान, विद्या, भक्ति इत्यादि सब विषयोंमें सर्वश्रेष्ठ होकर भी तृणकी अपेक्षा भी अपनेको तुच्छ माने। सब विषयोंमें सबसे श्रेष्ठ भी यदि हो, तो भी साधक अपनेको सब विषयोंमें सबकी अपेक्षा हेय माने।

"तृण अत्यन्त तुच्छ पदार्थ है; किन्तु वह तृण भी गाय आदिकी सेवामें अपनेको उत्सर्ग करके कृतार्थ होता है. गृह आदिके निर्माणमें सहायता करके लोगोंका भी बहुत उपकार करता है, प्रत्यक्ष भावसे अथवा परोक्ष भावसे तृण भगवत् सेवामें सहायक होता है, किन्तु मेरे द्वारा किसीका भी कोई भी उपकार नहीं होता, भगवत्-सेवामें भी किसीको किसी भी प्रकारकी सहायता नहीं मिलती—अतः मैं तृणकी अपेक्षा भी अधम हूँ; मेरे समान अधम और कोई भी नहीं है"—इत्यादि विचारते हुए साधक अपनेको तृणकी अपेक्षा हेय माने। ये सब बातें केवल मुँहसे कहनेसे

ही नहीं चलेगा—जबतक साधकके चित्तमें इस प्रकारके भावकी अनुभूति न हो, जबतक मनसे, प्राणसे वह अपनेको तृणकी अपेक्षा भी हेय अनुभव न करे, तब तक उसका '**तृणादपि सुनीच**' भाव सिद्ध नहीं होता।

वृक्षके समान सहिष्णु बनना

(२) '**तरोरिव सहिष्णुना**'—वृक्षकी तरह सहिष्णु होकर भगवन्नाम लेना चाहिये। '**दुइ प्रकारे सहिष्णुता करे वृक्ष सम**'—वृक्ष जैसे दो प्रकारसे सहिष्णु होता है वैसे दो प्रकारसे सहिष्णु होना चाहिये।

(क) '**वृक्षे जेन काटिलेह किछु ना बोलय**'—वृक्षकी पहिली सहिष्णुता—कोई भी व्यक्ति यदि वृक्षको काट डाले, तो भी वृक्ष उसको कुछ नहीं कहता, किसी प्रकारकी आपत्ति भी प्रदर्शित नहीं करता, कोई दुःख भी प्रकट नहीं करता; ऐसी है वृक्षकी सहिष्णुता! जो नामका फल—श्रीकृष्ण-प्रेम पानेकी इच्छा करे, उसको इसी प्रकार सहिष्णु बनना होगा; कोई दूसरा यदि उसका किसी भी प्रकारका अनिष्ट करे, यहाँ तक कि उसका प्राण लेनेके लिये आवे, तो भी वह उसको कुछ न कहे—उसके कार्यमें किसी प्रकारकी बाधा भी न दे, मनसे भी अनिष्टकारीके प्रति रुष्ट न हो, किसी प्रकारसे विचलित भी न हो। '**चेतोदर्पण**……' श्लोकके '**भवमहादावाग्नि निर्वापनम्**'की व्याख्या देखनी चाहिये।

(ख) **सुखाइया मैले कारे पानी न मागय**'—वृक्षकी दूसरी सहिष्णुता वर्षाके अभावमें यदि वृक्ष सूखकर मर भी जाय, तो भी वह किसीसे भी जल नहीं माँगता, स्थिर भावसे खड़ा-खड़ा जलके अभावका कष्ट सहता है—इतनी है वृक्षकी सहिष्णुता! नामका मुख्य फल—श्रीकृष्ण-प्रेम पानेके लिये साधकको भी इसी प्रकार सहिष्णु बनना पड़ेगा—आध्यात्मिक, आधिभौतिक, आधिदैविक—जो कोई भी दुःख या विपत्ति क्यों न उपस्थित हो, साधक अविचलित चित्तसे अम्लान-मुखसे उनको सहन करेगा, दुःख-विपत्तिसे, उद्धारकी आशासे किसीके भी निकट सहायताकी प्रार्थना नहीं करेगा—सब कुछ अपने किये हुये कर्मोंका फल मानकर अविचलित चित्तसे सहन करेगा।

श्रीहरिदास ठाकुर इस प्रकारकी सहिष्णुताके ज्वलन्त उदाहरण हैं; वाइसबजारमें बेंत द्वारा उनके सर्वाङ्गों पर प्रहार किया गया, वे किसी पर भी रुष्ट नहीं हुए, किसीसे भी सहायता नहीं चाही, अम्लान-मुखसे सब कुछ सहन किया और मुँहसे सर्वदा हरिनाम कीर्त्तन करते रहे।

वृक्षके और भी गुणोंकी बात कही जा रही है। **जेइ जे मागये तारे देय आपन धन।'** वृक्षसे कोई भी जो कुछ भी चाहता है, वृक्ष उसे ही अपने पासकी सम्पूर्ण सम्पत्ति—पत्र, डाल, फल, फूल—मेंसे वही दे देता है। वृक्षसे कोई पत्र-पुष्प, फलादि जो कुछ चाहे वह तो उसे देना ही है, अपितु कोई उसकी डाली काटे, यहाँ तक कि मूल भी काटे, उसको भी फल, फूल, पत्र, शाखा सब कुछ दे देता है, उसको, शत्रु समझ कर वञ्चित नहीं करता। नाम-साधकको भी इसी प्रकार वदान्य—उदार चित्त—बनना पड़ेगा। कोई कुछ चाहे, अपनी सामर्थ्यके अनुसार उसको वह चीज अवश्य दे। यदि कोई शत्रुताका आचरण करे और वह भी उससे कुछ चाहे तो उसको भी वञ्चित न करे, तथा अनन्य प्रीतिके सहित उसको भी अपनी शक्तिके अनुसार माँगी हुई वस्तु दे दे।

'घर्म्म वृष्टि सहे, आनेर करये रक्षण।' जिससे पसीना निकलने लगे ऐसी कड़ी धूप या गर्मी एवं वर्षा वृक्ष सहन करता है; वृक्ष स्वयं तो धूपसे दग्ध हुआ जा रहा है, अथवा घोर वर्षासे उसके सारे अंग सिक्त हो रहे हैं, ऐसे समयमें भी उसकी छायामें बैठकर यदि कोई अपना ताप निवारण करना चाहे अथवा उसके नीचे बैठकर वर्षासे बचना चाहे तो भी वृक्ष उसको छाया और आश्रय देकर उसकी रक्षा करता है; स्वयं कष्ट सहकर भी वृक्ष जीवका उपकार करता है। नाम-साधकको भी इसी प्रकार होना चाहिये; स्वयं न खाकर भी अन्नार्थीको अन्न दे, स्वयं विशेष असुविधा भोगकर भी शक्ति सामर्थ्यके अनुसार प्रार्थीको सुविधा प्रदान करदे—प्रार्थी यदि उसके प्रति शत्रुताका आचरण भी करे तो भी उसको वञ्चित न करे। जो लोग वृक्षकी डाली काटते हैं, वृक्ष उनको भी छाया देता है, आश्रय देता है। यहाँ तक **'तरोरिव सहिष्णुना'** का अर्थ हुआ।

दूसरोंको सम्मान देना

(३) '**अमानिना मानदेन**'—स्वयं किसी भी प्रकारकी सम्मान-प्राप्तिकी आशा न करके अन्य सबको सम्मान दे—अब इसका अर्थ किया जा रहा है।

'**उत्तम हञा वैष्णव हबे निरभिमान।**' धन, मान, कुल, विद्या, बुद्धि एवं भक्तिमें सर्वोत्तम होने पर भी वैष्णव अपने मनमें धन-मानादिका अभिमान या गर्व न करे; 'मैं धनी हूँ, मैं भक्त हूँ' इत्यादि मानकर वह किसीसे भी सम्मान प्राप्ति की आशा न करे—ये बातें उसके मनमें भी न आयें। अपनी अपेक्षा सब विषयोंमें निकृष्ट कोई भी व्यक्ति यदि उसके प्रति किसो भी प्रकारकी अवज्ञा दिखाये तो भी वह मनसे जरा भी क्षुब्ध न हो।

'**जीवे सम्मान दिवे जानि कृष्ण अधिष्ठान**'—प्रत्येक जीवमें परमात्मा रूपसे श्रीकृष्ण विराजमान हैं—यह मानकर, जीवमात्रको सम्मान प्रदान करे। किसीको भी अवज्ञा न करे, और तो क्या, साधारण जीव जन्तुकी भी नहीं।

अन्तर्देहेषु भूतानामात्माऽऽस्ते हरिरीश्वरः।
सर्वं तद्धिष्ण्यमीक्षध्वमेवं वन्तोषितो ह्यसौ॥

(श्रीम० भा० ६।४।१३)

प्रत्येक जीवमें परमात्मा रूपसे श्रीकृष्ण हैं, अतः प्रत्येक जीव ही भगवान्के मन्दिरके तुल्य है, इसलिये भक्तके सम्मानके योग्य है। श्रीमन्दिर संस्कार विहीन, भग्न, विकृत, अपरिष्कृत, **अपरिच्छन्न** होने पर भी जिस प्रकार भक्तके लिये समादरणीय है उसी प्रकार कोई भी जीव सामाजिक दृष्टिसे नोच होने पर भी भक्तके लिये नमस्कारके योग्य है; क्योंकि उसमें भी श्रीकृष्ण हैं। इसीसे शास्त्र बतलाते हैं।

ब्राह्मणादि चण्डाल कुक्कुर अन्त करि। दण्डवत् करिवेक बहु मान्य करि॥

चै० भा० अं० ३॥

ब्राह्मणादि, चाण्डाल और कुत्ते पर्यन्तको बहुत मान देकर दण्डवत् करे।

'प्रणमेद्दण्डवद्भूमावाश्वचाण्डालगोखरम् ।'

(श्रीम० भा० ११।२९।१६)

(१) **अन्तर्यामीश्वरदृष्टया सर्वान् प्रणमेत** ।। श्रीधर स्वामी ।। (२) **श्वचाण्डालादीनभिव्याप्य अन्तर्यामीश्वरदृष्टचा प्रणमेत्** ।।श्रीजीव गोस्वामी ।।—अन्तर्यामी ईश्वर दृष्टिसे—सबमें अन्तर्यामी रूपसे ईश्वर हैं, ऐसा मानकर—चाण्डाल, कुत्ते, गाय एवम् गधे पर्यन्त—सबको भूमि पर दण्डवत् होकर प्रणाम करे।

"मनसैतानि भूतानि प्रणमेद्बहुमानयन् ।
ईश्वरो जीवकलया प्रविष्टो भगवानिति ।।

(श्रीम० भा० ३।२९।३४)

(१) **जीवानां कलया परिकलनेन अन्तर्यामितया प्रविष्ट इति दृष्टचा इत्यर्थः** ।। श्रीधर स्वामी ।। (२) **जीवकलया तदन्तर्यामितया इत्यर्थः** ।। श्री जीव गोस्वामी ।।—अन्तर्यामी रूपसे ईश्वर भगवान् सब जीवोंके भीतर प्रविष्ट हैं, ऐसा मानकर मनके द्वारा (आन्तरिक भावसे) बहुत सम्मान प्रदर्शन पूर्वक सब जीवोंको प्रणाम करे।"

सदा कीर्त्तन करना

(४) **'कीर्त्तनीयः सदा हरि'**—इस प्रकारके व्यक्तिके द्वारा श्रीहरि सदा कीर्त्तनीय हैं।

'एइमत हञा जेइ कृष्णनाम लय। कृष्णेर चरणे तार प्रेम उपजय ।।'

उपर्युक्त प्रकारसे बनकर—अपनेको तृणकी अपेक्षा भी हेय मानकर वृक्षकी तरह सहिष्णु होकर, सर्वोत्तम होकर भी अपने लिये सम्मानकी आशा न करके, एवम् सब जीवोंमें श्रीकृष्ण अधिष्ठित हैं इसलिये सबको सम्मानित करके जो श्रीकृष्णका नाम लेते हैं, वे ही श्रीकृष्ण-प्रेम प्राप्त कर सकते हैं।

यहाँ पर जिस प्रकार नामकी साधनासे प्रेम उत्पन्न हो सकता है—यह बताया गया। किन्तु मायावद्ध जीवके लिये यह भाव सुलभ नहीं है; यह भी साधन-सापेक्ष है; यह भाव पानेके निमित्त श्रीभगवानके चरणोंमें एवं श्रीनामके निकट कातर प्रार्थना करते हुए, मन-प्राणसे श्रीनामका आश्रय ग्रहण करनेसे—निरन्तर श्रीनामके ग्रहण करनेसे—नामकी ही कृपासे साधकके चित्तमें '**तृणादपि**···' श्लोकका भाव उत्पन्न हो सकता है; तभी नाम ग्रहणके फलसे श्रीकृष्ण-प्रेमका उदय हो सकता है, इसके पूर्व नहीं।

श्रीचैतन्य-चरितामृतमें अन्यत्र बताया गया है—

एक कृष्णनामे करे सर्व्वपाप नाश। प्रेमेर कारण भक्ति करेन प्रकाश॥
प्रेमेर उदये हय प्रेमेर विकार। स्वेद-कम्प पुलकादि गद्गदाश्रुधार॥
अनायासे भवक्षय, कृष्णेर सेवन। एक कृष्णनामेर फले पाइ एत धन॥
हेन कृष्णनाम यदि लय बहुबार। तबे यदि प्रेम नहे, नहे अश्रुधार॥
तबे जानि अपराध आछये प्रचुर। कृष्णनाम-बीज ताहे ना हय अंकुर॥

आदिलीला ८।२२-२६

"एक कृष्ण नाम सम्पूर्ण पापोंका नाश कर देता है और प्रेमके आविर्भावके हेतु साधन भक्ति—नवधा भक्तिका प्रकाश कर देता है। प्रेमके उदय होने पर प्रेमके विकार—स्वेद, कम्प, पुलक, गद्गद वाणी, अश्रुधार आदि—अष्ट सात्विक भाव प्रकट होते हैं। श्रीकृष्ण-सेवनके द्वारा ही भव-बन्धनका नाश हो जाता है एक कृष्ण नामके फलसे इतना धन मिलता है। ऐसा कृष्ण नाम यदि अनेक बार लिया जाय और तब भी प्रेमका उदय न हो, अश्रुधार न बहे, तब यह समझना होगा कि अनेक सञ्चित अपराध हैं, इसलिये कृष्णनामके बीजसे अंकुर नहीं निकल रहा है।"

जिसमें नाम-अपराध सञ्चित है, नामका आश्रय करनेसे उसका भी नामापराध दूर हो सकता है। अपराध दूर होनेसे ही प्रेमोदयकी सम्भावना होगी।

जिसके वैष्णव-अपराध नहीं हैं, एक बार कृष्णनाम ग्रहण करते ही उसके चित्तमें प्रेमका उदय होता है; किन्तु जिसमें अपराध हैं, बहुत बार

नाम ग्रहण करने पर भी उसमें प्रेमोदय नहीं होता। फिर भी इससे अपराधी व्यक्तिके लिये हताश होनेका कोई कारण नहीं है; जिनके चरणोंमें अपराध हुआ है, यह जान लेने पर आन्तरिक भावसे उनके चरणोंमें क्षमा प्रार्थना करके, उनका सन्तोष विधान करनेसे ही अपराध दूर होंगे। कहाँ अपराध हुआ है—यह ज्ञान न हो, तो एकान्त भावसे श्रीनामका आश्रय ग्रहण करके, '**तृणादपि**···'श्लोकके मर्मानुसार निरन्तर नाम ग्रहण करनेसे ही, श्रीनामकी कृपासे अपराध दूर हो सकते हैं और अपराध दूर होनेसे ही प्रेमोदयकी संभावना हो सकती है।

जिसमें कोई भी अपराध नहीं है, उसकी तो '**तृणादपि** ···' श्लोकके अनुरूप चित्तकी अवस्था सहज ही हो जाती है। अपराधीके लिये यह समय-सापेक्ष है।

जब तक देहका आवेश—देहाध्यास रहता है, तभी तक विद्या, कुल, धन, सम्पति आदिका अभिमान रहता है और जब तक चित्तमें किसी भी प्रकारका अभिमान रहेगा, तबतक तृणकी अपेक्षा सुनीच भी नहीं हुआ जा सकता, वृक्षकी तरह सहिष्णु भी नहीं हुआ जा सकता; मान-सम्मानकी आशाका भी त्याग नहीं हो सकता, सब जीवोंको सम्मान भी नहीं दिया जा सकता एवं अपराधका बीज भी तब तक उसके भीतर विद्यमान रहेगा। '**तृणादपि**···' श्लोक जो प्रभुने कहा उसका सारमर्म है—अभिमान अर्थात् देहावेश—देहाध्यासका त्याग।

न धनं न जनं-श्लोककी व्याख्या

न धनं न जनं न सुन्दरीं
कवितां वा जगदीश कामये ।
मम जन्मनि जन्मनीश्वरे
भवताद्भक्तिरहैतुकी त्वयि ॥४॥

संस्कृत टीका—न धनमिति। हे जगदीश ! हे जगन्नाथ ! त्वयि भगवति ईश्वरे मम जन्मनि जन्मनि अहैतुकी हेतुरहिता शुद्धा इत्यर्थः भक्तिः भवतात् भवत्वित्यर्थः। धनं स्वर्णरत्नादिकं जनं परिचारिकादिकं सुन्दरीं अप्सरासदृशी भार्यादिकं कवितां काव्यरचनाशक्ति न कामये न याचेऽहं इत्यर्थः।

अन्वय—जगदीश (हे जगदीश) ! **धनं न** (धन भी नहीं), **जनं न** (जन भी नहीं), **सुन्दरीं कविता वा न** (सुन्दरी पत्नी—या सालङ्कारा कविता भी नहीं), **कामये** (याचना करता), **ईश्वर त्वयि** (ईश्वर ! तुममें), **मम** (मेरे), **जन्मनि जन्मनि** (जन्म-जन्ममें), **अहैतुकी** (अहैतुकी)। **भक्ति** (भक्ति), **भवतात्** (बनी रहे)।

अनुवाद—हे जगदीश ! मैं तुम्हारे चरणोंमें धनकी याचना नहीं करता, जनकी याचना नहीं करता, सुन्दरी पत्नी अथवा सालङ्कार कविताकी कवित्वशक्तिकी याचना नहीं करता; मेरी एक मात्र प्रार्थना यही है कि हे ईश्वर ! तुममें, जन्म-जन्ममें मेरी अहैतुकी भक्ति बनी रहे।

अहैतुकी भक्तिकी चाह

'धन जन नाहिं मागों—कविता सुन्दरी ।
शुद्ध भक्ति देह मोरे कृष्ण ! कृपा करि ॥

चै०च०अं० २०।२४

धनजन नाहिं मागों—हे जगदीश ! तुम्हारे चरणोंमें मैं धन, विद्या, जनके लिये प्रार्थना नहीं करता, **कविता सुन्दरी**—सुन्दरी कविता, सालङ्कारा कविता, लोगोंके चित्तको मुग्ध कर देने वाली कवित्व शक्तिके लिये भी प्रार्थना नहीं करता; अथवा कविता एवं सुन्दरी—कवित्व शक्ति एवं सुन्दर स्त्रीके लिये भी प्रार्थना नहीं करता। 'कविताके स्थान पर 'कवित्व' पाठान्तर भी है। **शुद्ध भक्ति** इत्यादि—हे कृष्ण ! कृपा करके तुम मुझे शुद्धभक्ति प्रदान करो—यही तुम्हारे चरणोंमें मेरी प्रार्थना है।

हे जगदीश ! जो कोई इच्छा करके जो कुछ चाहे, उसको तुम वही सब कुछ दे सकते हो, किन्तु प्रभु ! में तुम्हारे चरणोंमें और कुछ नहीं चाहता—चाहता हूँ केवल अहैतुकी शुद्धाभक्ति। मैं तुम्हारे चरणोंमें धन-रत्नादिकी प्रार्थना नहीं करता, क्योंकि धन-मदसे मत्त होकर जीव तुम्हारे सम्बन्धमें अन्धा हो जाता है, तुम्हारी बात भूल ही जाता है; पुत्र-कन्या-परिचारक आदिकी भी प्रार्थना नहीं करता, कारण, पुत्र-कन्यादि मिथ्या वस्तुओंमें अभिनिवेश उत्पन्न होनेसे सत्य-वस्तु—तुमसे और भी दूर हो जाना पड़ता है; मनोरम काव्य रचनाकी शक्ति नानालङ्कारमय काव्य रचनाकी शक्ति भी, अथवा सुन्दर स्त्री और कवित्व शक्ति भी मैं नहीं चाहता, उससे वृथा गर्व और वृथा आवेश मात्र होता है—मैं और कुछ भी नहीं चाहता हूँ चाहता हूँ केवल शुद्धाभक्ति अहैतुकी भक्ति; हे परम करुण कृष्ण ! तुम कृपा करके वही करो जिससे जन्म-जन्ममें तुम्हारे चरणोंमें मेरी अहैतुकी भक्ति बनी रहे।

श्लोकस्थ '**मम जन्मनि जन्मनि**'—अंशसे स्पष्ट है कि शुद्ध भक्त जन्म-मृत्युसे परित्राण पानेकी प्रार्थना भी भगवच्चरणोंमें नहीं करता। प्रह्लादने भी श्रीनृसिंहदेवके चरणोंमें ऐसी ही प्रार्थना की थी :—

नाथ ! जन्मसहस्रेषु येषु येषु भवाम्यहम्।
तेषु तेष्वच्युताभक्तिरच्युतास्ति सदा त्वयि ॥

(वि०पु० १।२०।१८)

हे प्रभो ! मेरे कर्म-फलके अनुसार सहस्रों योनियोंमें जहाँ-जहाँ मैं भ्रमण करूँ, हे अच्युत। वहाँ-वहाँ सर्वदा तुम्हारे चरणोंमें मेरी अच्युता अविचल भक्ति बनी रहे।

जन्म-मृत्युसे छुटकारा पानेकी प्रार्थनामें स्वसुख-वासना अथवा अपनी दुःख-निवृत्तिकी वासना है, यह शुद्धा-भक्तिके प्रतिकूल है। धन-जन कवितादिकी प्रार्थनाओंमें भी अपना सुख-भोग ही लक्ष्य रहता है, इससे यह भी शुद्धाभक्तिके प्रतिकूल है। शुद्धाभक्तिमें श्रीकृष्णकी प्रीतिके उद्देश्यसे श्रीकृष्ण सेवाके अतिरिक्त और कोई कामना नहीं रहती। श्रीकृष्ण-सेवाकी कामनामें यदि अपने सुख और दुःख निवृत्तिकी अभिलाषा रहे, तो वैसी श्रीकृष्ण-सेवा कामना भी शुद्धा-भक्तिके प्रतिकूल है। जबतक चित्तमें भुक्ति-मुक्तिकी स्पृहा रहेगी, तबतक शुद्धाभक्ति उत्पन्न नहीं हो सकती।

भुक्ति-मुक्ति-स्पृहा यावत् पिशाची हृदि वर्त्तते।
तावत् भक्तिसुखस्यात्र कथमभ्युदयो भवेत्॥

(भ०र०सि० १।२।१५)

भुक्ति-मुक्तिकी स्पृहा रूपी पिशाचिनी जबतक हृदयमें वर्तमान है तबतक उस अन्तःकरणमें भक्ति-सुखका अभ्युदय कैसे हो ?

अयि नन्द तनुज-श्लोककी व्याख्या

अयि नन्दतनुज किङ्करं
पतितं मां विषमे भवाम्बुधौ ।
कृपया तव पादपङ्कज
स्थित धूलीसदृशं विचिन्तय ॥ ५ ॥

संस्कृत टीका — अयीति । अयि कातरे हे नन्दतनुज नन्दात्मज ! तव किङ्करं विषमे भवाम्बुधौ अपार-संसार-समुद्रे पतितं मज्जितं मां कृपया करणभूतया पादपंकजस्थित धूलिसदृशं निजपादपद्माश्रित-रेणुतुल्यं विचिन्तय निजदासं कुरु इत्यर्थः ।

अन्वय—**अयि नन्दतनुज** (हे नन्द-नन्दन) ! **विषमें भवाम्बुधौ** (विषम संसार समुद्रमें) **पतितं** (पतित—पड़े हुए) **किंकरं** (तुम्हारे किंकर) मां (मुझको) **कृपया** (कृपा करके) **तव** (तुम्हारे) **पादपंकज स्थित** (चरण-कमलोंमें लगी हुई) **धूलि सदृशं** (धूलिके समान) विचिन्तय (समझो) ।

अनुवाद—अय नन्द-तनुज ! विषम-संसार-समुद्रमें पड़े हुए अपने किंकर मुझको कृपा करके अपने पाद-पद्म-स्थित धूलिके समान समझो ।

चरणाश्रयकी चाह

दो पयार छन्दोंमें इस श्लोकका अर्थ किया गया है ।

तोमार नित्यदास मुञि तोमा पासरिया ।
पड़ियाछों भवार्णवे मायावद्ध हञा ॥

चै०च०अं० २०।२६

तोमार नित्यदास—श्रीकृष्णका नित्यदास, **मुञि**—मैं, **तोमापासरिया**—श्रीकृष्णको भूलकर, **पड़ियाछों भवार्णवे मायाबद्ध हञा**— मायिक उपाधिको अङ्गीकार करके, मायाकृत संसारमें आवद्ध होकर, संसार समुद्रमें पड़ा हूँ ।

हे कृष्ण ! मैं जीव हूँ, अतः स्वरूपतः तुम्हारा नित्यदास हूँ, तुम्हारी सेवा करना ही मेरा स्वरूपानुवद्ध कर्त्तव्य है; किन्तु अनादि कालसे मैं तुमको भूलकर मायिक उपाधिको अङ्गीकार करके मायिक सुख भोगके लिये लुब्ध हो गया, इसीसे मायावद्ध होकर मैं संसार समुद्रमें पड़ा हुआ हूँ ।

जीव स्वरूपतः श्रीकृष्णका नित्यदास है; किन्तु इस बातको भूलकर जीव अनादि कालसे श्रीकृष्णसे वहिर्मुख हो रहा है । इसीसे माया उसको संसार-दुःख दे रही है ।

'जीवेर स्वरूप हय—कृष्णेर नित्यदास'

चै०च०म० २०।१०१

'कृष्ण भुलि सेइ जीव अनादि बहिर्मुख । अतएव माया तारे देय संसार-दुःख ॥

चै०च०म० २०।१०४

यह हुआ श्लोकके पूर्वार्द्ध 'अयि नन्दतनुज···भवाम्बुधौ' का अर्थ ।

कृपा करि मोरे पद धूलि सम ।
तोमार सेवक करों तोमार सेवन ॥

चै०च०अं० २०।२७

हे करुणामय श्रीकृष्ण ! मैं तुम्हारा ही दास हूँ ; दुर्भाग्यवश तुम्हारी सेवासे वञ्चित हो गया हूँ ; प्रभो ! तुम कृपा करके मुझे अपना सेवक बनालो, जिससे सर्वदा तुम्हारे चरणोंके आश्रयमें रहकर तुम्हारी चरण-सेवा करके कृतार्थ हो सकूँ—ऐसी दया करो प्रभो ! चरणोंमें लगी धूल जिस प्रकार चरण छोड़कर अन्यत्र नहीं रहती, उसी प्रकार मैं भी सर्वदा तुम्हारे चरणोंके आश्रयमें रह सकूँ, कभी भी तुम्हारे चरण न छुटें । में स्वरूपतः तुम्हारा ही दास हूँ, तुम्हारे चरणाश्रयमें रहकर तुम्हारी सेवा करूँगा ।

यह श्लोकके उत्तरार्द्ध 'कृपया·····विचिन्तय' का अर्थ हुआ ।

●

नयनं गलदश्रु-श्लोककी व्याख्या

नयनं गलदश्रुधारया वदनं गद्‌गद्‌रुद्धया गिरा ।
पुलकैर्निचितं वपुः कदा तव नामग्रहणे भविष्यति ।।६।।

संस्कृत टीका—नयनमिति । हे प्रभो ! कदा कस्मिन्‌काले तव नाम ग्रहणे कृष्ण कृष्णेनि नामोच्चारणे गलदश्रुधारया निचितं युक्तं नयनं भविष्यति, गद्‌गद्‌रुद्धया गिरा निचितं वदनं भविष्यति, पुलकैः निचितं वपुः भविष्यति ।

अन्वय—कदा (कब—किस समय) **तव** (तुम्हारे) **नाम ग्रहणे** (नाम ग्रहण करनेसे) **नयनं** (नयन) **गलदश्रुधारया** (विगलित अश्रुधारासे व्याप्त होंगे), **वदनं** (मुख) **गद्‌गद्‌रुद्धया गिरा** (गद्‌गद् वाक्यसे रूद्ध होगा), **वपुः** (देह) **पुलकैः** (पुलक द्वारा) **निचितं** (परिव्याप्त) **भविष्यति** (होगा) ।

अनुवाद—हे भगवन् ! ऐसा दिन मेरा कब आयगा—जब तुम्हारा नाम ग्रहण करने पर विगलित अश्रुधारासे मेरे नयन परिव्याप्त होंगे, मुख-कण्ठ गद्‌गद् वाक्यसे रुद्ध होगा, और समस्त देह पुलक द्वारा परिव्याप्त होगी ?

हे कृष्ण ! मेरा ऐसा सौभाग्य कब होगा कि तुम्हारा नाम कीर्त्तन करते-करते मेरे नयनोंसे अविरल अश्रुधारा बहेगी, मेरा कण्ठ-स्वर गद्‌गद्-वाक्यसे रुद्ध होगा एवं मेरी देह पुलकावलीसे परिव्याप्त होगी ? अर्थात् नाम ग्रहण करते-करते कब मेरी देह में रोमाञ्च-अश्रु आदि सात्विक विकारोंका उदय होगा ? ये सब सात्विक विकार प्रेमोदयके लक्षण हैं ।

प्रेमधनके लिये प्रार्थना

प्रेमधन बिनु व्यर्थ दरिद्र जीवन।
दास करि वेतन मोरे देह प्रेमधन ॥

(चै० च० अं० २०।२९)

प्रेम-धनके बिना यह दरिद्र जीवन व्यर्थ है। मुझे दास बनाकर वेतनके रूपमें प्रेम-धन दो।

प्रेमधन बिनु इत्यादि—श्रीकृष्ण-प्रेमरूप-धनके बिना यह जीवन दरिद्रके समान व्यर्थ—सार्थकता-शून्य है। श्रीकृष्ण-सेवासे ही जीवनकी सार्थकता है; किन्तु प्रेमके बिना श्रीकृष्ण सेवा भी सम्भव नहीं; अतः जिसके चित्तमें श्रीकृष्ण-प्रेम नहीं, उसका जीवन ही व्यर्थ है, उसके जीवनकी कोई भी सार्थकता नहीं है, क्योंकि वह श्रीकृष्ण-सेवासे वञ्चित है; और उसके समान दरिद्र भी कोई नहीं है, कारण, जिसमें प्रेम नहीं, जिसको श्रीकृष्ण-सेवाका सौभाग्य नहीं, उसके लिये कुछ भी नहीं है। जिसमें प्रेम है, उसीके लिये सब कुछ है, क्योंकि उसके श्रीकृष्ण हैं। जो प्रेम धनसे धनी हैं—सबके आश्रय और निदान जो श्रीकृष्ण हैं उसी कृष्ण-धनसे वह धनी है।

दास करि इत्यादि—दास—भृत्य प्रभु की—स्वामीकी सेवा करता है; प्रभु उसको वेतन देते हैं। हे श्रीकृष्ण ! हे मेरे प्रभो ! तुम मुझे अपना दास-भृत्य बनाकर सेवा में नियोजित करलो और मेरी प्राप्य-वेतनके रूपमें मुझे अपना प्रेमदान देना, प्रेमके अतिरिक्त और कोई वेतन मैं तुमसे नहीं चाहता।

यहाँ पर 'वेतन' की चाहसे स्वार्थानुसंधान सूचित नहीं होता, क्योंकि वेतन रूपमें श्रीकृष्ण-प्रेमकी प्रार्थना ही है—श्रीकृष्ण-प्रेमका तात्पर्य, कृष्ण-सुखार्थ कृष्ण-सेवा—अपना सुख लाभ नहीं। इस प्यारमें कहीं-कहीं वेतनकी जगह वर्त्तन पाठ भी मिलता है। अर्थ दोनों का एक ही है।

प्रेमदाता कौन है ?

प्रेमदाता कौन है ? आजकल किसी-किसीका कहना है कि जिस प्रकार पद्म या अन्य मधुवाले पुष्पोंके पाससे कोई भी अपने आप मधु नहीं ले सकता। पुष्प जैसे स्वयं अपने आप किसीको मधु नहीं देते, मधुकर द्वारा आहरित मधु ही लोगोंको मिल सकता है, वैसे ही भगवानसे सीधे कोई प्रेम प्राप्त नहीं कर सकता, भगवान किसी को प्रेम नहीं देते प्रेम भक्तसे ही प्राप्त हो सकता है। यह उक्ति कितनी युक्तिसङ्गत इसका विचार किया जाय।

(क) इस पयार छन्दमें श्रीमन्महाप्रभु भक्तभावमें आविष्ट होकर श्रीकृष्णसे ही 'प्रेमधन' की प्रार्थना करते हैं। '*दास करि वेतन मोरे देह प्रेमधन।*' श्रीकृष्ण यदि किसीको प्रेम नहीं ही दें अथवा वे यदि प्रेम दे ही न सकें, कोई यदि उनसे प्रेम पा-ही न सके, तो प्रभु की यह प्रार्थना निरर्थक हो जाती है। प्रभु निरर्थक वाक्य नहीं बोलते।

(ख) शास्त्रों द्वारा ज्ञात होता है कि अनन्त भगवत्-स्वरूपके वर्तमान रहने पर भी स्वयं-भगवान श्रीकृष्णको छोड़कर और कोई भी भगवत्-स्वरूप प्रेमदान नहीं कर सकता ; श्रीकृष्ण लता-गुलमको भी प्रेमदान कर सकते हैं। '**सन्त्यवतारा बहवः पंकजनाभस्य सर्वतो भद्राः। कृष्णादन्यः कोवा लताष्वपि प्रेमदो भवति॥**' स्वयं श्रीकृष्ण ने भी कहा है :—

युगधर्म्म प्रवर्त्तन हय अंश हैते। आमा बिना अन्ये नारे व्रज प्रेम दिते॥

चै० च० आ० ३।२०

अंशावतार द्वारा युगधर्म प्रवर्तित हो सकता है। किन्तु मेरे स्वयंके बिना और कोई भी व्रजप्रेम नहीं दे सकता।

उन्होंने और भी कहा है :—

चिरकाल नाहि करि प्रेम-भक्ति दान। भक्ति विना जगनेर नाहि अवस्थान॥

चै० च० आ० ३।१२

बहुत कालसे प्रेम-भक्तिका वितरण नहीं किया। भक्तिके बिना जगतके जीवोंकी अवस्थिति-स्थिरता नहीं है।

इससे स्पष्ट है कि श्रीकृष्णके अतिरिक्त और कोई भी भगवत्स्वरूप प्रेम नहीं दे सकते; केवल इतना ही नहीं, उन्होंने (श्रीकृष्णने) किसी समय बहुत पहले प्रेम-दान दिया भी है।

उपपुराण में भी बताया है—श्रीकृष्णने वासुदेवको कहा है :—

अहमेव क्वचिद् ब्रह्मन् सन्न्यासाश्रमाश्रितः ।
हरिभक्तिं ग्राहयामि कलौ पापहतान्नरान् ॥

(१।३।१५)

इससे ऐसा जाना है कि किसी विशेष कलियुगमें (क्वचित् कलौ) श्रीकृष्ण हरिभक्त (प्रेम) दान करते हैं। हरिभक्त प्राप्तिका उपाय बतानेकी बात इस श्लोकमें नहीं कही गई है, हरिभक्ति दानकी बात ही कही गई है **'हरिभक्ति ग्राहयामि'**।

इन सब प्रमाणोंसे यह स्पष्ट भावसे जाना जाता है कि श्रीकृष्ण ही प्रेम दे सकते हैं, और कोई नहीं दे सकते और श्रीकृष्ण प्रेम देते भी हैं।

(ग) व्रज प्रेम दान करनेके निमित्त ही स्वयं भगवान श्रीकृष्णने प्रेमके आश्रय-स्वरूप अपने श्रीगौराङ्ग-स्वरूपको इस कलियुगमें जगतमें प्रकट किया—

"अनर्पितचरीं चिरात् करुणयावतीर्णः कलौ
समर्पयितुमुन्नतोज्ज्वलरसां स्वभक्तिश्रियम् ।
हरिः पुरटसुन्दरद्युतिः कदम्बसन्दीपितः
सदा हृदयकन्दरे स्फुरतु वः शचीनन्दनः ॥

(विदग्धमाधव १।२)

बहुतकाल पर्यन्त पूर्वमें जो अर्पित नहीं हुई उन्नत-उज्ज्वल रसमयी अपनी वही सम्पत्ति दान करनेके निमित्त जो कलियुगमें अवतीर्ण हुए—स्वर्णसे

भी बढ़कर अति सुन्दर द्युतिसमूह द्वारा समुद्भासित वे शचिनन्दन हरि सर्वदा तुम्हारी हृदय कन्दरामें स्फुरित होते रहें।" तथा अधिकारी और अनधिकारीका विचार न करके आपामर सर्व-साधारण प्रेम दिया। झार-खण्ड मार्गमें स्थावर-जङ्गम आदि पर्यन्तको भी उन्होंने प्रेम दान किया।

(घ) प्रेम वस्तु है श्रीकृष्णकी ह्लादनी शक्तिकी वृत्ति-विशेष। '*ह्लादिनीर सार प्रेम।*' ह्लादिनी है श्रीकृष्णकी स्वरूप-शक्ति, वह श्रीकृष्णमें ही अवस्थित है। जीवमें यह ह्लादिनी शक्ति नहीं है। अतः श्रीकृष्ण ही हुए प्रेमके मूल उत्स—मूल आधार। इसीलिये श्रीकृष्णके अतिरिक्त और कोई भी प्रेम नहीं दे सकते।

स्वयं-भगवान श्रीकृष्णके अतिरिक्त और कोई भी भगवत्-स्वरूप-प्रेम नहीं दे सकते उसमें हेतु भी है। जिसके अधिकारमें जो वस्तु होती है वह उसी वस्तुको दे सकता है। जिसके अधिकारमें जो वस्तु नहीं है उसको वह नहीं दे सकता। श्रीकृष्णके अतिरिक्त अन्यान्य भगवत्-स्वरूपगणका धाम है परव्योममें (या वैकुण्ठमें)। परव्योम हुआ ऐश्वर्य प्रधान धाम, इस धाममें ऐश्वर्यका ही सबसे अधिक प्राधान्य है; अतः ऐश्वर्य-ज्ञान-हीन एवं ममत्व-बुद्धिमय विशुद्ध प्रेम परव्योममें रह नहीं सकता। इसीलिए परव्योमके कोई भी भगवत्-स्वरूप—यहाँ तक कि परव्योमाधिपति नारायण भी विशुद्ध प्रेम नहीं दे सकते, क्योंकि इस जातिका प्रेम उनके अधिकारमें नहीं है। द्वारका-मथुरामें भी ऐश्वर्यका भाव है; वहाँके परिकरगणमें श्रीकृष्णके सम्बन्धमें ऐश्वर्य-ज्ञान-हीन प्रेम नहीं है, उनका प्रेम ऐश्वर्य-ज्ञान-मिश्रित है; अतः द्वारिका या मथुरामें भी ऐश्वर्य-ज्ञान-हीन विशुद्ध प्रेम नहीं है। ऐश्वर्य-ज्ञान-हीन एवं ममत्व-बुद्धिमय विशुद्ध प्रेमका स्थान है एक मात्र स्वयं-भगवान व्रजेन्द्र-नन्दनका लीला-स्थल व्रजधाम। अतः व्रजबिहारी श्रीकृष्ण ही व्रजप्रेम या विशुद्ध प्रेम दे सकते हैं, और कोई भगवत्स्वरूप उसको नहीं दे सकते। इस पयार छन्दमें एवं अन्यत्र भी 'प्रेम' के द्वारा 'व्रजप्रेम' या 'ऐश्वर्य-ज्ञान-हीन श्रीकृष्णमें ममत्व-बुद्धिमय एवं कामगन्ध-लेश-शून्य विशुद्ध प्रेम' ही सूचित होता है। यह एक मात्र व्रजकी ही सम्पत्ति है।

(ङ) प्रकट-लीलामें स्वयं श्रीकृष्ण ही अधिकारी भक्तोंको प्रेम दान देते हैं; गौर-स्वरूपमें साधन-भजनकी अपेक्षा न रखकर भी बिना विचार

किये उन्होंने प्रेम दान किया है; एवं अपने पार्षदगणके द्वारा भी दिलाया है। किन्तु लीलाके अन्तर्धानके बाद साधारणतया भजनकी सहायतासे ही यह प्रेम मिलता है।

साधन-भक्ति हैते हय रतिर उदय । रति गाढ़ हैलै तार प्रेम नाम कय ।।
(चै० च० म० १६।१५१)

साधन-भक्तिसे 'रति' का उदय होता है और 'रति' के गाढ़ हो जाने पर उसी का नाम 'प्रेम' हो जाता है। यह प्रेम हुआ नित्यसिद्ध वस्तु; साधनके फलसे चित्त शुद्ध होने पर उससे प्रेमका आविर्भाव होता है।

नित्य सिद्ध कृष्णप्रेम साध्य कभु नय । श्रवणादि शुद्ध चिते करये उदय ।।
(चै० च० म० २२।५७)

नित्य सिद्ध कृष्णप्रेम कभी भी साधनसे उपलब्ध होनेवाली वस्तु नहीं है; श्रवणादिके द्वारा शुद्ध हुए चित्तमें यह स्वतः ही उदय होता है।

कृतिसाध्या भवेत् साध्यभाव सा साधनामिधा।
नित्यसिद्धस्य भावस्य प्राकट्यं हृदिसाध्यता ।।
(भ० र० सि० १।२।२)

किन्तु श्रवणादि द्वारा शुद्ध हुए चित्तमें प्रेम कहाँसे आता है? आता है श्रीकृष्णसे। ह्लादिनी शक्तिकी कोई भी एक सर्वानन्दातिशायिनी वृत्तिको श्रीकृष्ण सर्वदा ही भक्तवृन्दके चित्तमें निक्षिप्त करते हैं; वही भक्तके चित्तमें गृहीत होकर प्रेमरूपसे विराजित रहती है। **"तस्या ह्लादिन्या एव कापि सर्वानन्दतिशायिनी वृर्तिनित्यं भक्तवृन्देष्वेव निक्षिप्यमाना भगवत्-प्रीत्याख्यया वर्त्तते।** प्रीति सन्दर्भ ६५।" इस प्रकार देखा गया कि साधक भक्तके चित्तमें कोई भी एक विशेष अवस्था प्राप्त होने पर वह जो प्रेम प्राप्त करता है, वह भी श्रीकृष्णसे ही आता है एवं श्रीकृष्ण स्वयं ही उस प्रेमका-दान दिया करते हैं।

अनुग्रह-जात-रति

(च) भक्तरसामृतसिन्धुमें लिखा है कि कृष्णरति—भाव, जो प्रेमके रूपमें परिणत होता है—उसे आरम्भिक-सत्संगजात-महाभाग साधकगण

दो प्रकारसे प्राप्त करते हैं, एक तो साधनमें अभिनिवेश—मनकी पूरी तल्लीनताके द्वारा और दूसरे श्रीकृष्ण अथवा उनके भक्तोंके अनुग्रह—प्रसादके द्वारा। इनमेंसे साधनाभिनिवेशके द्वारा ही प्रायः सभी इस रति या भावको प्राप्त करते हैं; श्रीकृष्णकी या श्रीकृष्ण-भक्तोंकी अनुग्रह-जात-रतिके उदाहरण अत्यन्त विरल हैं।

साधनाभिनिवेशेन कृष्ण-तद्भक्तयोस्तथा।
प्रसादेनातिधन्यानां भावो द्विधाभिजायते।
आद्यस्तु प्रायिकस्तत्र द्वितीयो विरलोदयः॥

(भ० र० सि० १।३।५)

यहाँ पर पहिले साधनाभिनिवेशकी बात कहकर पीछे कृष्ण और कृष्ण-भक्तोंकी कृपाकी बात कही गई है, इसीसे प्रमाणित होता है कि साधनाभिनिवेशके अतिरिक्त भी कृष्ण और कृष्ण-भक्तोंकी कृपासे कृष्ण-रति प्राप्त हो सकती है—यह हुआ श्रीकृष्ण और श्रीकृष्ण-भक्तोंका साक्षात् भावसे अनुग्रह।

श्रीकृष्णके द्वारा साक्षात् भावसे अनुग्रह साधारणतया प्रकट लीलामें ही होता है। अप्रकटमें यह नितान्त सम्भव न हो सो बात नहीं; कहीं-कहीं किसी एक सौभाग्यवान्‌को ऐसा सौभाग्य प्राप्त हो सकता है; इसीसे इसको 'विरलोदय' कहा गया है। जिनका साधनमें अभिनिवेश नहीं, उनके चित्त शुद्धिकी सम्भावना भी नहीं; अतः साधारणतया उनके लिये प्रेम-प्राप्तिकी सम्भावना भी नहीं होती। तथापि, श्रीकृष्णकी विशेष कृपा होने पर, अपनी अचिन्त्य शक्तिके प्रभावसे उनके चित्तको शुद्ध करके श्रीकृष्ण उनको प्रेम दे सकते हैं। यहाँ पर श्रीकृष्णकी हुई साधनाभिनिवेशकी अपेक्षा न रखकर चित्त-शुद्धि-करणके सम्बन्धमें एक विशेष कृपा; यह प्रेमदानके सम्बन्धमें विशेष कृपा नहीं है, क्योंकि भुक्ति-मुक्ति-वासनाहीन, विशुद्ध-चित्त-जीवको प्रेम देनेके लिये तो श्रीकृष्ण स्वयं ही व्याकुल रहते हैं। *'लोक निस्तारिब एइ ईश्वर-स्वभाव।'* वे अपने आपही अपनी ह्लादिनी-शक्तिकी वृत्ति-विशेषको सब ओर निक्षिप्त करते रहते हैं; जिससे वह वृत्ति विशुद्ध चित्त भक्तोंके हृदयमें गृहीत होकर प्रेमरूपसे विराजित रह सके (प्रीतिसन्दर्भ।६५)।

अब कृष्ण-भक्तोंके अनुग्रहकी बात लीजिये। कृष्ण-भक्तोंकी अनुग्रह-जात-रतिको भी **'विरलोदय'** कहा गया है। उसका कारण भी ऊपर लिखा हुआ ही प्रतीत होता है। प्रकट-लीलामें श्रीमन्महाप्रभुने अपने पार्षद-भक्तों द्वारा अनर्गल रूपसे प्रेम-भक्तिका वितरण कराया है; इस प्रेम-वितरणमें साधन-भजनकी अपेक्षा नहीं रक्खी गई। यह हुआ महाप्रभुकी प्रकट-लीला का वैशिष्ट्य। उस समय यह **'विरलोदय'** नहीं था। किन्तु, प्रभुकी लीलाके अन्तर्धानके बाद यह हो जाता है **'विरलोदय'**। जो हो, कृष्णभक्तोंके अनुग्रहसे साधनाभिनिवेशहीन व्यक्ति भी कृष्ण-रति प्राप्त करता है, वह किस प्रकार सम्भव है ? कोई भी कृष्ण-भक्त यदि किसी भाग्यवानके प्रति प्रसन्न होकर उसके लिये प्रेम-प्राप्तिकी कामना करे तो भक्तवत्सल भक्त-वाञ्छा-कल्पतरु भगवान उस भाग्यवानको प्रेमदान देकर उस कृष्णभक्तकी वासना पूर्ण कर सकते हैं। किसी भी कृष्ण भक्त द्वारा इस प्रकारकी इच्छा प्रकाश करने पर भगवान् उसको अपूर्ण नहीं रखते, क्योंकि भक्त-चित्त-विनोदन ही उनका एक व्रत है। **'मदभक्तानां विनोदार्थं करोमि विविधाः क्रियाः ॥'**— यह उनकी मुखोक्ति है। वासुदेव दत्तने जगतके सब जीवोंके पापोंका भार ग्रहण करके उनके उद्धारके निमित्त स्वयं नरक भोग करनेकी भी इच्छाकी थी। श्रीमन्महाप्रभुने उनसे कहा था—"वासुदेव ! तुमने जब सब जीवोंके उद्धार की कामना की है, तो परम दयालु भक्तवत्सल श्रीकृष्ण समस्त जीवोंका उद्धार करेंगे, तुमको नरकका भोग नहीं करना पड़ेगा।" यहाँ पर सब जीवोंके प्रति वासुदेव दत्तकी कृपा हुई—उनके उद्धारके लिये उनके मनमें इच्छाकी उत्पत्ति। उद्धार करेंगे—श्रीकृष्ण। वासुदेव दत्तकी कृपा हुई जीवोंके उद्धारका परम्परागत हेतु मात्र; कृष्णकी अपेक्षा न रखकर वासुदेव-दत्तने जीवोंका उद्धार स्वयं नहीं किया; वैसी इच्छा भी नहीं की।

श्रीपाद ईश्वरपुरी गोस्वामीने श्रीपाद माधवेन्द्रपुरी गोस्वामीकी सेवा की थी; उनके प्रति प्रसन्न होकर माधवेन्द्रपुरीने उनका आलिङ्गन किया और वर दिया—'कृष्णमें तुम्हारा प्रेम हो'।

'तुष्ट हआ पुरी ताँरेकैल आलिङ्गन। वर दिल—कृष्णे तोमार हउक प्रेमधन ॥
(चै० च० अं० ८।२९) ॥

श्रीपाद माधवेन्द्र पुरीके अनुग्रहके फलस्वरूप उसी समयसे ईश्वरपुरी प्रेमके सागर बन गये।

'सेइ हैते ईश्वरपुरी प्रेमेर सागर' ॥ (चै० च० अं० ८।३०) ॥

'ईश्वरपुरीको प्रेम प्राप्ति हो'—यही हुआ उनके प्रति श्रीपाद माधवेन्द्रपुरीका अनुग्रह।

भक्ति-भण्डारके स्वामी और भण्डारीके अधिकार

श्रीचैतन्य-भागवतके अन्त्य खण्ड, १० वें अध्यायके २५७ से २६१ पयार छन्दोंसे जाना जाता है कि श्रीमन्महाप्रभुने जब श्रीश्रीरूप-सनातनको प्रेम-भक्ति देनेके लिए श्रीअद्वैत प्रभुको कहा—

अमायाय कृष्णभक्ति देह ए-दोंहारे। जन्म-जन्म जेन आर कृष्ण ना पासरे ॥

इन दोनोंको इनके प्रति दया करके कृष्ण-भक्ति दो, जिससे ये जन्म-जन्मान्तरमें कृष्णको न भूलें।

भक्तिर भाण्डारी तुमि, बिने तुमि दिले। कृष्णभक्ति, कृष्णभक्त, कृष्ण कारे मिले ॥

तुम भक्तिके भण्डारी हो, तुम्हारे दिये बिना कृष्ण-भक्ति, कृष्ण-भक्त और कृष्ण किसको मिल सकते हैं? तब श्रीअद्वैताचार्यने कहा था—

अद्वैत बोलेन

"प्रभु सर्व्वदाता तुमि। तुमि आज्ञा करिले से दिते पारि आमि ॥

हे प्रभु! सब कुछ देने वाले तुम्हीं हो। तुम्हारी आज्ञा होनेसे ही मैं दे सकता हूँ।

प्रभु आज्ञा करिले से भाण्डारी दिते पारे। एइमत जारे कृपा कर' जार द्वारे ॥

प्रभु अर्थात् स्वामीकी आज्ञा होनेसे ही भण्डारी भण्डारकी वस्तुको दे सकता है। इस प्रकार उस भण्डारीके द्वारा तुम चाहे जिस पर कृपा कर सकते हो।

काय-मन-बचने महोर एइ कथा। ए-दुइर प्रेमभक्ति हउक सर्व्वथा ॥

मैं काया-मन-बचनसे कहता हूँ कि इन दोनोंको सब प्रकारकी भक्ति प्राप्त हो।

श्रीमन्महाप्रभुने श्रीअद्वैताचार्यको 'भक्तिका भण्डारी' बनाया। श्रीमदद्वैतप्रभुने कहा—"मुझे तुमने भण्डारी बनाया है लेकिन भण्डारके प्रभु—स्वामी तो तुम्हीं हो, तुम्हारे आदेशसे ही मैं भण्डारका द्रव्य वितरण कर सकता हूँ।" वास्तविक रूपमें तो मादनाख्य-महाभाववती श्रीराधिका ही अखण्ड-प्रेमकी मूर्त्त विग्रह या भण्डार हैं। उनके साथ मिलन होनेसे ही राइ-कानु-मिलित-विग्रह—राधाकृष्ण-मिलित-विग्रह श्रीश्रीगौर सुन्दर उसी प्रेमके भण्डार-स्वरूप हुए हैं। और उन्होंने पूर्वोक्त प्रेम-भण्डारकी मोहर तोड़कर अपने पार्षदवृन्दके साथ उसका आस्वादन किया है और जहाँ-तहाँ इस प्रेम वितरणके लिये अपने परिकरवृन्दको आदेश दिया है।

एकला मालाकार आमि काहाँ-काहाँ जाब।
एकले वा कत फल पाड़िया बिलाब॥
अतएव आमि आज्ञा दिल सभाकारे।
जाहाँ-ताहाँ प्रेमफल देह जारे तारे॥

(चै० च० आ० ९।३२-३४)

मैं अकेला माली कहाँ-कहाँ जाऊँगा, मैं अकेला भला कितने फल बाँटूँगा। अतएव मैं सबको आज्ञा देता हूँ कि जहाँ-तहाँ, जिस-जिसको—जो भी मिले उन सबको प्रेम फल बाँटो।

प्रेम-भण्डारके स्वामी श्रीमन्महाप्रभुने श्रीअद्वैतादिको अपने भण्डारका भण्डारी बनाकर प्रेम-वितरणका आदेश दिया। इसीलिए उनने श्रीअद्वैतको 'भक्तिका भण्डारी' बताया। भण्डार कहाँ रहता है ? भण्डारमें जो द्रव्य होता है, उस द्रव्यके स्वामीके घरमें ही भण्डार रहा करता है; भण्डारी उस द्रव्यका रक्षक मात्र होता है; भण्डारीके घरमें भण्डार नहीं हुआ करता। स्वामीका आदेश होने पर ही भण्डारी भण्डारके द्रव्यको बाहर निकाल कर दे सकता है, अपनी इच्छासे नहीं। जो स्वामी है, वही वास्तविक दाता है। किसीको भी भण्डारका द्रव्य दिलानेके लिये यदि भण्डारीकी इच्छा हो तो स्वामीके निकट भण्डारी अपनी इच्छा व्यक्त करके

ही अपने अभिलषित व्यक्तिको द्रव्य देनेकी प्रार्थना कर सकता है। इसके अतिरिक्त भण्डारीकी और कोई क्षमता नहीं होती। इसीसे प्रभुकी बातके उत्तरमें श्रीअद्वैताचार्यने कहा—"प्रभु ! तुम्हीं सर्वदाता हो, मैं दाता नहीं, मैं तो केवल भण्डारी हूँ। तुम्हारा आदेश पाने पर ही दे सकता हूँ।" किन्तु प्रभुने तो पहिले ही आदेश दे रक्खा था—"*अमायाय कृष्ण भक्ति देह ए-दोंहारे।*" तो भी, श्रीअद्वैतने स्वयं प्रेम देनेकी चेष्टा न करके कहा—

"काय-मन-बचने मोर एइ कथा। ए-दुइर प्रेम भक्ति हउक सर्व्वथा॥"
(चै० भा० अं० १०।२६०)

इङ्गितसे उन्होंने जना दिया कि प्रेम-भक्तिके दानमें वास्तविक अधिकार मेरा नहीं है, रूप-सनातनको प्रेम-भक्ति मिले—यह इच्छा मात्र मैं कर सकता हूँ; यहीं तक मेरा अधिकार है। प्रभो ! काय-मन-वचनसे वही इच्छा मैं तुम्हारे चरणोंमें निवेदन करता हूँ। प्रभुका आदेश पाने पर भी श्रीअद्वैत प्रभुने यह नहीं कहा—"अच्छा प्रभु, तुमने जब आदेश दिया है, तो मैंने इन दोनोंको प्रेम-भक्ति दे दी या देता हूँ।" हो सकता है कि भक्तकी मर्यादा बढ़ानेके उद्देश्यसे प्रभुने श्रीअद्वैतको कहा हो—"*अमायाय कृष्णभक्ति देह ए-दोंहारे।*" भक्तकी मर्यादा बढ़ानेके लिये प्रभु सर्वदा व्याकुल रहते हैं। किन्तु कृष्णकी शक्तिके बिना प्रेमका प्रकाश नहीं होता, कृष्ण ही प्रेमके एकमात्र दाता हैं ऐसा शास्त्रोंका प्रमाण है।

प्रेम-परकाश नहे कृष्ण-शक्ति बिने। कृष्ण एक प्रेमदाता शास्त्रेर प्रमाणे॥
(चै० च० अं० ७।१२)

किसीको भी प्रेम प्राप्ति करवानेके लिये भक्तकी इच्छा कृष्ण-शक्तिसे ही अभिव्यक्त होती है। ऐसा हुए बिना उस इच्छाको पूर्ण करनेके लिये कृष्ण व्याकुल नहीं होते। भक्तके चित्तमें कृष्णकी शक्ति सञ्चरित होती है।

श्रीकृष्ण-कृपासे जिनके चित्तमें प्रेमका आविर्भाव होता है, वे ऐसा नहीं मानते कि उनके चित्तमें प्रेम है। उनकी अवस्थाका आभास श्रीमन्महाप्रभुने अपनी प्रलापोक्तिमें दिया है।

दूरे शुद्ध प्रेमगन्ध, कपट प्रेमेर बन्ध, सेहो मोर नाहि कृष्ण पाय ।

"शुद्ध प्रेमकी तो गन्ध भी दूर रही, श्रीकृष्णके चरणोंमें मेरा कपट प्रेम भी नहीं है।" अतः प्रेमके अधिकारी कृष्णभक्त कभी भी किसीको नहीं कहते कि "मैं तुमको प्रेम दूँगा।" जिस भाग्यवानके प्रति वे प्रसन्न होते हैं, उनको प्रेम प्राप्त हो जाय—यह अभिप्राय मात्र वे प्रकाश कर सकते हैं एवं उनको प्रेमदान देनेके लिये श्रीकृष्णचरणोंमें प्रार्थना भी कर सकते हैं। इस प्रकारकी इच्छा या प्रार्थना ही उस भाग्यवानके प्रति कृष्ण भक्तका प्रसाद—अनुग्रह है, विशुद्ध प्रेमी भक्तकी यह इच्छा या प्रार्थना भक्तवत्सल भगवान पूर्ण करते हैं। अतएव मूल प्रेमदाता हुए श्रीकृष्ण। कृष्णभक्तकी प्रार्थनासे प्रेमदानकी इच्छा श्रीकृष्णके चित्तमें उदय होती है। तब श्रीकृष्ण अपनी अचिन्त्य शक्तिके प्रभावसे भक्तके अनुग्रह-पात्र भाग्यवान जीवके चित्तकी विशुद्धि सम्पादन करके उसको प्रेमदान कर देते हैं।

कृष्ण-भक्तके इस प्रकारके अनुग्रहसे उत्पन्न कृष्णरतिको 'विरलोदय' कहनेसे यह प्रतीत होता है कि शुद्ध-प्रेमवान् कृष्ण-भक्त जगतमें अत्यन्त विरले हैं।

कोटि ज्ञानि मध्ये हय एक जन मुक्त । कोटि मुक्त मध्ये दुर्ल्लभ एक कृष्ण भक्त ॥

(चै० च० म० १६।१३१)

करोड़ों ज्ञानियोंमेंसे कोई एक मुक्त पुरुष होता है और करोड़ों मुक्त पुरुषोंमेंसे भी एक कृष्ण-भक्त दुर्लभ होता है।

मुक्तानामपि सिद्धानां नारायण-परायणः ।
सुदुर्लभः प्रशान्तात्मा कोटिष्वपि महामुने: ।।

(श्रीम० भा० ६।१४।५)

साधनाभिनिवेशके द्वारा जो कृष्ण-रति प्राप्त होती है वह भी श्रीकृष्णसे ही होती है। साधनाभिनिवेशसे चित्त शुद्ध होता है, शुद्ध चित्तमें प्रेमका आविर्भाव होता है; और यह प्रेम आता है प्रेमके मूल भण्डार-स्वरूप एवं प्रेमके एक अधिकारी तथा दाता श्रीकृष्णसे ही। श्रीकृष्णके सिवाय और कोई प्रेम नहीं दे सकता।

अतएव श्रीकृष्णसे प्रेम कोई नहीं पाता, श्रीकृष्ण किसीको प्रेम नहीं देते—यह उक्ति विचार-सम्मत नहीं लगती। जो इस प्रकारकी बात कहते हैं और पद्मका—कमलका दृष्टान्त देते हैं, वह दृष्टान्त ही उनकी उक्तिकी असारता प्रकट करता है। पद्म केवल मधुकरको ही मधु देता है, और किसी भी जीवको नहीं देता। इसका कारण यह है कि मधु आहरणकी सामर्थ्य केवल मधुकरमें ही है, और किसीमें नहीं। उसी प्रकार श्रीकृष्णरूप पद्मसे मधु ग्रहणकी सामर्थ्य केवल मात्र भक्तरूप मधुकरमें ही है और किसीमें नहीं। भक्त ही श्रीकृष्णचरणाम्बुजका मधुप है। भक्त भी जीव ही है; श्रीकृष्ण यदि किसीको भी प्रेम दान नहीं देते, तो भक्त उसको कहाँसे प्राप्त करते हैं? किसी भी जीव-स्वरूपमें आह्लादिनी शक्ति नहीं है; अतः कोई भी जीव-स्वरूप श्रीकृष्णके बिना अपने आप ही प्रेमका अधिकारी नहीं हो सकता एवं श्रीकृष्ण-शक्तिके बिना और किसीको प्रेम दे भी नहीं सकता। भक्त श्रीकृष्ण शक्तिको धारण करते हैं, इसीसे भक्तकी इच्छासे श्रीकृष्ण किसीको भी प्रेम दे सकते हैं।

युगायितं श्लोककी व्याख्या

युगायितं निमेषेण चक्षुषा प्रावृषायितम् ।
शून्यायितं जगत् सर्वं गोविन्दविरहेण मे ।।७।।

संस्कृत टीका– युगायितमिति । हे सखि विशाखे ! गोविन्दविरहेण हेतुभूतेन मे मम निमेषेण त्रुटिलवकालेन युगायितं तद्वदाचरितं चक्षुषा नेत्रद्वयेन प्रावृषायितं वर्षाकालीय मेघवदाचरितं सर्वं जगत् शून्यायितं तद्वदाचरति स्म । अतएव मत्प्राणनाथं दर्शयित्वा प्राणं रक्ष इति भावः ।

अन्वय––गोविन्दविरहेण (गोविन्द-विरहमें) **मे** (मेरा) **निमेषेण** (निमेष-काल) **युगायितं** (एक युगके समान दीर्घ हो गया है), **चक्षुषा** (चक्षु) **प्रावृषायितम्** (वर्षाके समान हो गये हैं), **सर्वं जगत्** (समस्त जगत्) **शून्यायितं** (शून्य-सा लगता है)।

अनुवाद––गोविन्द-विरहमें मेरा एक निमेष-काल एक युगके समान हो गया है, मेरे चक्षु वर्षाके समान हो गए हैं––सर्वदा प्रबल वेगसे अश्रुधारा बहती है, समस्त जगत् शून्य-सा लगता है।

श्रीकृष्ण-विरह-जनित स्थिति

श्रीकृष्णके विरहमें कातर होकर श्रीराधाके भावमें आविष्ट होकर श्रीमन्महाप्रभु अपनेको श्रीराधा एवं रायरामानन्दको विशाखा मानकर कहते हैं––"हे सखि विशाखे ! श्रीकृष्णके विरहमें एक निमेष मात्रका समय भी मुझे एक युगके समान लगता है, दुःखका समय कट ही नहीं पाता सखि ! मैं कब तक यह असह्य यन्त्रणा-सहती रहूँगी ? और देखो सखि; मेरे नयनोंसे वर्षाकी धारा प्रवाहित हो रही है, तो भी सखि ! विरहकी अग्नि तो बुझती नहीं, और कब तक सखि ! प्राणवल्लभके विरहमें रोते

हुए समय काटना होगा ? सखि ! प्राणवल्लभके बिना सारा जगत् मुझे शून्य-सा दीखता है। सखि ! इस प्रकार मैं कैसे प्राण धारण कर सकूँगी ? शीघ्र मेरे प्राणनाथके दर्शन करवाकर मेरे प्राणोंकी रक्षा करो सखि !"

यह श्लोक श्रीकृष्ण-विरहमें क्षण-कल्पनाका उदाहरण है । इसकी व्याख्या दो पयार छन्दोंमें की गई है, पूर्वार्द्धकी एकमें और उत्तरार्द्धकी दूसरेमें ।

उद्वेगे दिवस ना जाय, क्षण हैल युगसम।
वर्षार मेघप्राय अश्रु वरिषे नयन॥

(चै० च० अं० २०।३१)

उद्वेगे इत्यादि—श्रीकृष्ण विरह जनित उद्वेगके कारण समय मानों बीतता ही नहीं, क्षण मात्रका अति अल्प समय भी एक युगके समान दीर्घ-काल-सा लगता है। उपर्युक्त पयारका यह पूर्वार्द्ध **'युगायितं निमेषेण'**का अर्थ हुआ ।

वर्षार मेघप्राय इत्यादि—वर्षाके मेघके समान नयन अश्रु-वर्षण करते हैं; वर्षाकी धाराके समान नयनोंसे अविरल अश्रु वर्षा हो रही है। उपर्युक्त पयारका यह उत्तरार्द्ध **'चक्षुषा प्रावृषायितम्'**का अर्थ हुआ ।

गोविन्दविरहे शून्य हैल त्रिभुवन।
तुषानले पोड़े जेन ना जाय जीवन॥

(चै० च० अ० २०।३२)

गोविन्द-विरहे इत्यादि—आनन्द-दाता गोविन्द—श्रीकृष्णके विरहमें मेरी सब इन्द्रियोंको सारा त्रिभुवन शून्य-सा लगता है। कहीं भी मानों कोई जन-प्राणी हो ऐसा नहीं लगता, जिसके साथ दो बातें कर शान्ति पा सकूँ। श्रीकृष्णके न रहनेसे ऐसा लगता है मानो कहीं भी कोई नहीं है—प्राण शून्य, मन शून्य, त्रिजगत् शून्य, सब शून्य—प्राण केवल हा-हाकार करते हैं। पयारार्द्ध **'शून्यायितं जगत् सर्वं'** का अर्थ हुआ ।

तुषानले इत्यादि—तुषाकी अग्निमें न तो ज्वाला रहती है और न जलता हुआ अङ्गार—देखनेमें तुषमें अग्नि है या नहीं, इसका पता नहीं लगता, तथापि ताप बड़ा तीव्र होता है ; तुषाकी अग्निमें जो कुछ भी दबाकर रख दिया जाय, वहाँ जल कर राख हो जाता है। ऊपर-ऊपर राख दीखती है और भीतर होता है तीव्र ताप। प्रिय-विरहकी अग्निका भी यही रूप होता है—बाहरसे कुछ विशेष दिखाई नहीं देता, भीतर ही भीतर हृदय जलकर राख हो जाता है, श्रीकृष्ण-विरहकी अग्नि तुषानलके समान हृदयमें धक-धक करके जलती रहती है, उससे देह मन जलकर भस्म हो जाते हैं, तो भी प्राण नहीं निकलते। प्राण यदि निकल जायँ तो इस असह्य ज्वालासे छुटकारा मिल जाय। पयारका यह उत्तरार्द्ध 'गोविन्द विरह'का भाव बताता है। इस पयारके उत्तरार्द्धमें 'जेन' शब्दकी जगह 'मन' या 'देह' पाठान्तर भी मिलता है।

आश्लिष्य वा श्लोककी व्याख्या

आश्लिष्य वा पादरतां पिनष्टु मा-
मदर्शनान्मर्महतां करोतु वा ।
यथा तथा वा विदधातु लम्पटो
मत्प्राणनाथस्तु स एव नापरः ॥

संस्कृत टीका—आश्लिष्येति । हे सखि विशाखे । स प्राणनाथः श्रीकृष्णः पादरतां पाददासिकां मां आश्लिष्य आलिङ्ग्य पिनष्टु आत्मसात् करोतु वा, अदर्शनात् मर्महतां मृत्युतुल्य-पीड़ितां करोतु वा, लम्पटः वहुवल्लभः स यथा तथा मां हित्वा अन्याभिः वल्लभाभिः सह विहारं विदधातु करोतु वा, तु तथापि स एव श्रीकृष्ण एव मत् मम प्राणनाथः न अपरः ।

अन्वय—स (वे श्रीकृष्ण) **पादरतां मां** (पद-दासी मुझको) **आश्लिष्य** (आलिङ्गन करके) **पिनष्टु** (वक्षःस्थलसे पीस डालें) **वा** (अथवा) **अदर्शनात्** (दर्शन न देकर) **मर्महतां** (मुझे मर्माहत ही) **करोतु** (करें), **वा** (अथवा) **सः** (वे) **लम्पटः** (बहुवल्लभ लम्पट) **यथा तथा** (जहाँ-तहाँ) **विदधातु** (विहार ही करें), **तु** (तथापि) **स एव** (वे ही) **मत्प्राणनाथः** (मेरे प्राणनाथ हैं) **न अपरः** (दूसरे कोई नहीं) ।

अनुवाद—श्रीकृष्ण अपनी पद-दासी समझ मुझको आलिङ्गन द्वारा वक्षःस्थलसे आत्मसात् ही करें, अथवा वे बहुवल्लभ चाहे जो कुछ भी क्यों न करें, जहाँ-तहाँ किसी भी अन्य रमणीके साथ विहार करें, हैं तो मेरे प्राणनाथ ही ! प्राणनाथके सिवा दूसरे कुछ नहीं ।

आत्म-समर्पण

इस आत्म-समर्पणके श्लोकका बड़ा विस्तृत भाव है, जिसका कोई अन्त नहीं। श्रीचैतन्य-चरितामृतमें अन्त्य-लीलाके बीसवें परिच्छेदमें संक्षेपमें इसका अर्थ एक त्रिपदेगीतमें किया है जो यहाँ दिया जाता है।

आमि कृष्णपद-दासी,	मैं कृष्ण-चरण-रजकी चेरी,
तेंहो रससुखराशि,	वे हैं सुखकी, रसकी ढेरी,
आलिङ्गिया करे आत्मसाथ।	लें आत्मसात कर वे मुझको कर आलिङ्गन।
किवा ना देन दर्शन,	चाहे न मुझे वे दें दर्शन,
जारेन आमार तनुमन,	ज्वालासे भर दें मम तन मन,
तभु तेंहो मोर प्राणनाथ॥	वे तब भी मेरे प्राणनाथ हैं जीवनधन॥
सखि हे! शुन मोर मनेर निश्चय।	सखि री! सुन ले मेरे मनका निश्चय अनन्य।
किवा अनुराग करे,	चाहे अनुराग करें जी भर,
किवा दुःख दिया मारे,	दे दुख प्राण या लें वे हर
मोर प्राणेश कृष्ण, अन्य नय॥	बस कृष्ण प्राणपति मेरे, कोई नहीं अन्य॥
छाड़ि अन्य नारीगण,	हो विरत अन्य रमणी जनसे,
मोर वश तनु-मन,	मम वशीभूत हो तन-मनसे,
मोर सौभाग्य प्रकट करिया।	सौभाग्य-दीपकी मेरे कर उद्‌बुद्ध शिखा।
ता-सभारे देन पीड़ा,	उन सबको दें पीड़ासे भर,
आमासने करे क्रीड़ा,	मेरे संगमें क्रीड़ा कर-कर,
सेइ नारीगणे दिखाइया॥	उन अन्य सभी व्रज बालाओंको दिखा-दिखा।
किवा तेंहो लम्पट,	चाहे तो वे लम्पट भारी,
शठ धृष्ट सकपट,	शठ, निपट, धृष्ट, कपटाचारी,
अन्य नारीगण साथ।	सँगमें अपने बालाएँ लेकर अपर-अपर।
मोरे दिते मनः पीड़ा,	मम मनको देनेको पीड़ा,
मोर आगे करे क्रीड़ा,	सम्मुख ही भले करें क्रीड़ा,
तभु तेंहो मोर प्राणनाथ॥	तब भी मेरे प्रियतम वे ही, वे प्राणेश्वर॥

आश्लिष्य वा श्लोककी व्याख्या—आत्म-समर्पण

ना गणि आपन दुख,	परवाह नहीं है निज दुखकी,
सबे वाञ्छि ताँर सुख,	इच्छा केवल उनके सुखकी,
ताँर सुखे आमार तात्पर्य्य ।	मेरा बस, उनके सुखमें ही तात्पर्य सकल ।
मोरे यदि दिले दुःख,	यदि देनेमें ही मुझको दुख,
ताँर हैल महासुख,	उनको मिलता है अतिशय सुख,
सेइ दुःख मोर सुखवर्य्य ।।	मम हेतु परम सुखमें जाता वह दुख बदल ।
जे नारीके वाञ्छे कृष्ण,	जिस रमणीके हरि हाथ बिके,
तार रूपे सतृष्ण,	वे तृषित सदा जिसकी छविके,
तारे ना पाञा काहे हय दुखी ?	वे दुखी भला क्यों होते हैं न उसे पा कर ?
मुञि तार पाये पड़ि,	मैं उसके पैरों पर सिर धर,
लञा जाङ्-हाथे धरि,	लाउँगी उसको पकड़े कर,
क्रीड़ा कराञा करों ताँरे सुखी ।।	दूँगी सुख उनको उससे क्रीड़ा करवा कर ।।
कान्ता कृष्णे करे रोष,	कान्ता हरि पर होती प्रकुपित,
कृष्ण पाये सन्तोष,	उनकी होती छाती पुलकित
सुख पाय ताड़न भर्त्सने ।	वे सुख उसके ताड़न-भर्त्सनसे पाते हैं ।
यथायोग्य करे मान,	वह मान यथोचित है करती,
कृष्ण ताते सुख पान,	सुखसे हरिकी छाती भरती,
छाड़े मान अलप साधने ।।	बस अल्प यत्नसे मान-जलद छँट जाते हैं ।
सेइ नारी जीये केने,	कैसे वामा रहती जीवित,
कृष्णेर मर्म्म व्यथा जाने,	हरि-मर्म-व्यथासे जो परिचित,
तभु कृष्णे करे गाढ़ रोष ।	तब भी उनके प्रति रोष ठानती है अतिशय ।
निज सुखे माने काज,	निज सुखसे जिसे प्रयोजन बस,
पड़ु तार शिरे बाज,	सिर पर उसके पवि पड़े बरस,
कृष्णेर मात्र चाहिये सन्तोष ।।	सन्तोष कृष्णको मिले, यही मम दृढ़ निश्चय ।।
जे गोपी मोर करे द्वेषे,	जो गोपी मुझसे द्वेष करे,
कृष्णेर करे सन्तोषे,	पर हरि उरमें संतोष भरे,
कृष्ण जारे करे अभिलाष ।	अनुरक्त कृष्ण हों चाहे भी जिस रमणी पर ।

शिक्षाष्टक

मुञि तार धरे जाञा,	उसके निवास पर मैं जाकर,
तारे सेवों दासी हञा,	चाकरी करूँ दासी बन कर,
तबे मोर सुखेर उल्लास ।।	तब हुलस उठेगा मेरा उर सुखसे भर-भर ।।
कुष्टि विप्रेर रमणी,	जो कुष्ठी ब्राह्मणकी गृहिणी,
पतिव्रता – शिरोमणि,	पतिव्रता-शिरोमणि जो रमणी,
पति लागि कैल वैश्यार सेवा ।	उसने वेश्याकी सेवाकी पतिके निमित्त ।
स्तम्भिल सूर्य्येर गति,	करदिया सूर्य-गतिको स्तम्भित,
जीयाइलो मृत पति,	कर दिया मृतक पतिको जीवित,
तुष्ट कैले मुख्य तिन देवा ।।	कर दिया प्रधान त्रिदेवोंको संतुष्ट-चित्त ।।
कृष्ण मोर जीवन,	श्रीकृष्णचन्द्र मेरे जीवन,
कृष्ण मोर प्राणधन,	वे ही मेरे प्राणोंके धन,
कृष्ण मोर प्राणेर पराण ।	मेरे प्राणोंके प्राण कृष्ण सर्वस्व वही ।
हृदय उपरे धरों,	उर ऊपर उनको बैठाऊँ,
सेवा करि सुखि करों,	करके सेवा सुख पहुँचाऊँ,
एइ मोर सदा रहे ध्यान ।।	है बात ध्यानमें रहती मेरे सदा यही ।।
मोर सुख सेवने,	सेवामें ही मम सुख-निवास,
कृष्णेर सुख सङ्गमे,	श्रीकृष्ण सुखी कर रति-विलास,
अतएव देह देङ् दान ।	मैं दान इसीसे करती हूँ अपने तनका ।
कृष्ण मोरे 'कान्ता' करि,	मुझको हरिने 'कान्ता' मानी,
कहे 'तुमि प्राणेश्वरी',	कहते 'प्राणोंकी पटरानी'
मोर हय 'दासी' अभिमान ।।	होता तब भी अभिमान मुझे दासीपनका ।
कान्तसेवा सुखपुर,	बस, कान्त-चरण-सेवा सुखमय,
सङ्गम हैते सुमधुर,	सङ्गमसे भी सुमधुर अतिशय,
ताते साक्षी लक्ष्मीठाकुराणी ।	वैकुण्ठ-महारानी पद्मा इसमें प्रमाण ।
नारायणेर हृदे स्थिति,	नारायणके हृदयासीना,
तभु पादसेवाय मति,	तब भी पद-सेवा मति-लीना,
सेवा करें दासी-अभिमानी ।।	दासीपनका गौरव, सेवामें दत्त-प्राण ।।

एइ राधार वचन,	राधा-वचनावलि अद्भुत यह,
विशुद्ध प्रेम-लक्षण,	निर्मल रति-रूप रही है कह,
आस्वादये श्री गौरराय ।	गौराङ्ग महाप्रभु करते इसका आस्वादन ।
भावे मन अस्थिर,	भावोदधि डूबा अस्थिर मन,
सात्त्विके व्यापे शरीर,	सात्विक भावोंसे पूरित तन,
मन-देह धरण ना जाय ।।	अक्षम हो जाते रखनेमें स्थिर निज तन-मन ।।
व्रजेर विशुद्ध प्रेम,	व्रज प्रेम विनिर्मल अति अनूप,
जेन जाम्बुनद हेम,	ज्यों खरा जाम्बुनद जातरूप,
आत्मसुखेर जाहे नाहि गन्ध ।	है नहीं गन्ध भी जहाँ आत्मसुखकी किञ्चित ।
से प्रेम जानाइते लोके,	जगको प्रेम बतानेको भू-पर,
प्रभु कैल एइ श्लोके,	प्रभुने यह श्लोक रचा सुन्दर,
पदे कैल अर्थेर निबन्ध ।।	इस पदके द्वारा जिसका अर्थ किया विकसित ।।

वे सब स्थितिमें प्राणनाथ है

श्रीराधाभावाविष्ट श्रीमन्महाप्रभु, रायरामानन्दको ललिता सखी मानकर उससे अपना भाव व्यक्त कर रहे हैं।

आमि कृष्णपद-दासी, तेंहो रससुखराशि,
आलिङ्गिया करे आत्मसाथ ।
किवा ना देन दर्शन, जारेन आमार तनुमन,
तभु तेंहो मोर प्राणनाथ ।।

आमि कृष्णपद-दासी—मैं तो श्रीकृष्ण-चरणों की दासी हूँ, अतएव श्रीकृष्ण जब जो चाहें क्यों न करें, सेवा द्वारा सभी प्रकारसे उनका सुख-विधान ही मेरा कर्त्तव्य है।

तेंहो रस-सुख-राशि—वे श्रीकृष्ण रसके राशि और सुखके राशि अर्थात् रससमूह और सुखसमूह हैं। **रस-राशि**—श्रीकृष्ण रस स्वरूप हैं—**रसो वै सः**; इसीलिए शृङ्गारादि समस्त रस वे ही हैं। रस-स्वरूपसे वे

आस्वाद्य हैं और "**रसयति आस्वादयति इति रसः**" के अर्थमें वे रसके आस्वादक, रसिक हैं। रस आस्वादकी जितने प्रकारकी **वैचित्री** हैं, वे सब ही श्रीकृष्णमें पर्यवसित हैं, वे रसिक शेखर हैं। **सुख-राशि**—श्रीकृष्ण सुख स्वरूप आनन्दस्वरूप हैं, वे आनन्दघनविग्रह हैं, मूर्तिमान आनन्द हैं। उनका देह घनीभूत आनन्द द्वारा गठित है, आनन्दके अतिरिक्त उनमें और कुछ नहीं है। **आलिङ्गिया**—मुझ राधाको आलिङ्गन करके, **करे आत्मसात्**—अङ्गीकार करें, दृढ़ आलिङ्गनके द्वारा अपने शरीरके साथ मेरे शरीरको निष्पेषित करें। श्लोकके "आश्लिष्य" शब्दका अर्थ यह है।

किवा—मुझे आलिङ्गन करके आत्मसात् ही करें अथवा **ना देन दर्शन**—दर्शन न देवें, आलिङ्गन करना तो दूर रहा, यदि वे मेरे सामने भी न आवें, **जारेन**—दर्शन न देकर दुःखसे जलावें "**जारेन आमार तनु मन**" की जगह "**ज्वालेन आमार मन**" इस प्रकार पाठान्तर भी मिलता है। ज्वालेन—जला डालें दग्ध करदें, आमार तनु मन—मुझ राधाके तन और मनको दुःखसे जला दें। **किवा ना देन दर्शन** इत्यादि श्लोकके "**अदर्शनान्मर्महतां करोतु वा**"—इस अशंका अर्थ है।

तभु—दर्शन न देकर मेरे तन-मनको दुःखसे जला डालने पर भी **तेहों मोर प्राणनाथ**—वे श्रीकृष्ण मेरे प्राणवल्लभ ही हैं, वे मेरे अपने जन ही हैं, पराए नहीं हैं। श्लोकके '**मत्प्राणनाथस्तु स एव**' अंशका अर्थ यह है।

श्रीकृष्ण-विरहसे पीड़ित श्रीमन्महाप्रभु श्रीराधा-भावमें राय रामानन्दको सखी मानकर अपना भाव अभिव्यक्त करते हैं— "सखि! कृष्णके प्रति उपेक्षा प्रदर्शनके लिये तुम मुझे उपदेश देती हो, किन्तु सखि! मैं किस प्रकार उनके प्रति उपेक्षा दिखाऊँ? मैं तो उनकी चरण-सेविका हूँ; सब अवस्थामें उनकी सेवा करके सब प्रकारसे उन्हें सुखी करनेकी चेष्टा करना ही मेरा कर्त्तव्य है; मेरे प्रति उनकी उदासीनता देख लेने पर भी मैं उनकी उपेक्षा कैसे कर सकती हूँ? सखि! मेरे प्रति उदासीनता दिखाकर यदि उन्हें आनन्द मिलता है तो मुझे भी उसीमें सुख है—उनका सुख विधान ही तो मेरा एक-मात्र कर्त्तव्य है। सखि! श्रीकृष्ण तो रस-स्वरूप हैं, वे तो आनन्द-स्वरूप हैं। वे चाहे जो कुछ भी क्यों न करें,

उससे केवल आनन्द एवं रसकी धारा ही प्रवाहित होती रहती है, वही धारा सभीको आप्लावित कर देती है, सखि ! वे रसिक-शेखर हैं; रस एवं आनन्द आस्वादन ही उनका कार्य है; रस एवं आनन्द आस्वादनके उद्देश्यसे—अपने रसास्वादनकी वैचित्री-सम्पादनके लिये वे चाहे जब जो कुछ भी क्यों न करें, उसी कार्यकी अनुकूलता विधान करके उनको सुखी करनेकी चेष्टा करना ही उनकी दासीका कर्त्तव्य है—उसीमें उनकी दासीका आनन्द है, उसीमें उसकी तृप्ति है; उन मूर्तिमान् आनन्द श्रीकृष्णके किसी भी कार्यमें अनुकूलता सम्पादन कर सकनेमें ही उनकी दासीका आनन्द है। सखि ! वे मेरे प्राणवल्लभ हैं और मैं उनकी दासी हूँ। वे यदि अपनी इस दासीको दृढ़ आलिङ्गनके द्वारा अपने सुविशाल वक्ष:स्थल पर निष्पेषित करके आनन्दित हों, तो मैं कृतार्थ हूँ अथवा ऐसा न करके मुझे परित्यागकर वे दूर चले जाएँ—एक बार भी मेरी आंखोंके सामने न आवें, और इसीमें उन्हें सुख मिले, तथा उनके अदर्शन-दु:खसे मेरा देह-मन जर्जरित होता रहे, तब भी वे मेरे प्राणवल्लभ ही हैं; उस अवस्थामें भी उनको अपना दु:ख-दाता नहीं मान सकती; उनका सुख ही तो उनकी दासीका एकमात्र लक्ष्य है। सखि ! अपना सुख तो मैं चाहती ही नहीं सखि !

यहाँ पर *'मति' भाव सूचित हुआ है ऐसा लगता है।

सखि हे ! शुन मोर मनेर निश्चय।
किवा अनुराग करे, किवा दु:ख दिया मारे,
मोर प्राणेश कृष्ण, अन्य नय॥

सखि हे—हे सखि ! **शुन मोर मनेर निश्चय**—मेरे मनकी निश्चित धारणा सुनो, **किवा अनुराग करे**—मेरे प्रति श्रीकृष्ण प्रीति दिखावें, **किवा दु:ख दिया मारे**—अथवा अपने अदर्शन जनित दु:खसे मुझे प्राणान्त यातना दें, **मोर प्राणेश कृष्ण अन्य नय**—श्रीकृष्ण मेरे प्राणनाथ ही हैं, पराये तो नहीं हैं। यह भी श्लोकके "**मत्प्राणनाथस्तु स एव नापर:**" अंशका अर्थ है।

***मतिर्विचारोत्थमर्थनिर्धारणम्** श्रीपाद जीव गोस्वामी एवं श्रीपाद विश्वनाथ चक्रवर्ती उज्ज्वल नीलमणि व्यभिचारिण: प्रकरण ७६ की टीका।

सखि ! मेरे मनकी जो निश्चित धारणा है—जो मैं मन ही मनमें अनुभव करती हूँ, वह बताती हूँ, सुनो ! श्रीकृष्ण आलिङ्गन द्वारा मेरे प्रति प्रीति प्रकाश करें अथवा मुझे त्यागकर अन्यत्र जाकर मरणान्तक दुःख दें—वे जो इच्छा हो सो क्यों न करें, सब अवस्था में वे मेरे प्राणवल्लभ ही हैं, वे नितान्त मेरे अपने हैं, वे किसी भी समय पराये नहीं हैं। जब वे मेरे निकट रहें तब तो मेरे बन्धु हैं, नितान्त अपने हैं और जब मुझे छोड़कर चले जायेंगे, तब पराए हो जायँगे, ऐसी बात नहीं है सखि ! वे सभी अवस्था में मेरे प्राणवल्लभ हैं, अपने हैं।

छाड़ि अन्य नारीगण, मोरा वश तनु-मन,
मोर सौभाग्य प्रकट करिया।
ता-सभारे देन पीड़ा, आमासने करे क्रीड़ा*
सेइ नारीगण देखाइया॥
किवा तेंहो लम्पट, शठ धृष्ट सकपट,
अन्य नारीगण साथ।
मोरे दिते मनः पीड़ा, मोर आगे करे क्रीड़ा*
तभु तेंहो मोर प्राणनाथ॥

छाड़ि अन्य नारीगण—श्रीकृष्ण अपनी अन्य प्रेयसियोंको त्यागकर **मोर वश तनु-मन**—अपने तन-मनको मेरे अधीन करके, मेरी इच्छाके अनुसार अपने शरीर और मनके द्वारा मेरी प्रीतिका सम्पादन करें, सब प्रकारसे मेरे प्रीति-विधानकी वासना लेकर—अपने मनको मेरे अधीन रखकर, और अपने शरीरके द्वारा मेरी इच्छानुसार क्रीड़ादि करके—अपने शरीरको मेरे अधीन रखके, **मोर सौभाग्य प्रकट करिया**—अपने सङ्गलाभका सौभाग्य मुझे दान देकर, **ता-सभारे**—अपनी अन्य प्रेयसीगणको, **देन पीड़ा**—मानसिक

* 'गोपीप्रेमकी कामगन्धहीनता' शीर्षक प्रवन्ध देखिये।

पीड़ा दें। (प्रेयसीगणको त्यागकर उनके सम्मुख ही मुझ राधाके साथ क्रीड़ा करनेसे उन प्रेयसियोंके मनमें पीड़ा होनेकी सम्भावना है)। **सेइ नारीगणे देखाइया**—अपनी उन परित्यक्ता प्रेयसीगणके सामने ही, **आमासने करे क्रीड़ा**—मेरे साथ क्रीड़ा करे। "**किवा करे अनुराग**" का यह उदाहरण है।

किवा—अथवा, **तेंहो लम्पट**—वे लम्पट श्रीकृष्ण (जो अनेक रमणियोंसे सम्भोग करे उसे लम्पट कहते हैं)। **शठ**—शठ—जो सामने तो प्रिय वाक्य बोले और पीछेसे अप्रिय कार्य करे तथा निगूढ़ अपराध करे, उसको शठ कहते हैं।

प्रियं व्यक्ति पुरोऽन्यत्र विप्रियं कुरुते भृशम्।
निगूढमपराधं च शठोऽयं कथितो बुधैः॥

(उ० नी० नायकभेदाः ३३)

धृष्ट—धृष्ट—अन्य युवतीके भोग चिह्नोंके अपने देहपर स्पष्ट रूपसे दीख जानेपर भी, जो नायक अपनी प्रेयसीके सम्मुख चतुराई पूर्वक, निर्भयतासे मिथ्या वचनों द्वारा सफाई देनेकी चेष्टा करे, उसको धृष्ट कहते हैं।

अभिव्यक्तान्यतरुणी-भोगलक्ष्मापि निर्भयः।
मिथ्यावचनदक्षश्च धृष्टोऽयं खलु कथ्यते॥

(उ० नी० नायक भेदाः ३६)

सकपट—कपटता सहित—जिसके मुखकी बात तो कुछ और हो और मनमें दूसरे प्रकारके भाव हों, उसको कपट कहते हैं। **अन्य नारीगण करि साथ**—अन्य रमणीगणको साथ लाकर, **मोरे दिते मनः पीड़ा**—मेरे मनको पीड़ा पहुँचानेके लिये, **मोर आगे करे क्रीड़ा**—मेरे सामने ही उन सब रमणियोंके साथ क्रीड़ा करें। "**किवा दुःख दिया मारे**" का यह उदाहरण है।

श्रीकृष्ण किस प्रकार उनके प्रति अनुराग दिखा सकते हैं और किस प्रकार उन्हें प्राणान्त दुःख दे सकते हैं इसको स्पष्ट रूपसे श्रीराधा कह रही हैं—

सखि ! बहुवल्लभ श्रीकृष्णकी अनेक प्रेयसियाँ हैं, यह तो तुम लोग जानती ही हो। किन्तु अन्य प्रेयसियोंके प्रति उपेक्षा दिखाकर, उनके सामने ही, उन्हें दिखा-दिखाकर यदि वे मेरे साथ क्रीड़ा करें—सर्वतोभावेन मेरे प्रीति-विधानकी वासनाको मनमें लिये हुए, आलिङ्गन-चुम्बनादि द्वारा देहसे भी सब प्रकारसे मेरा अभीष्ट सिद्ध करें—इस प्रकार मेरा अतिशय सौभाग्य प्रकट करनेपर वे जैसे मेरे प्राणवल्लभ हैं, मेरे प्रति उपेक्षा दिखाकर, मेरे प्रति शठता-धृष्टता-कपटता दिखाकर, मेरे ही सम्मुख, मुझे दिखा-दिखाकर अपनी अन्य प्रेयसियोंके साथ क्रीड़ा करके मेरे मनको दुःख पहुँचानेकी चेष्टा करने पर भी वे मेरे वैसे ही प्राणवल्लभ हैं; इससे मेरे प्राणोंपर मेरी प्रीतिपर उनका आधिपत्य जरा भी कम न होगा। सखि ! मैं जानती हूँ कि वे लम्पट हैं—बहुत-सी रमणियोंमें आसक्त हैं; मैं जानती हूँ कि वे शठ हैं अर्थात् मेरे सामने तो मुझे ही प्राणेश्वरी बतलाते हैं, किन्तु पीछेसे अन्य रमणीको प्राण-मन अर्पण करते हैं; मैं जानती हूँ कि वे धृष्ट हैं अर्थात् अन्य रमणीकी कुञ्जमें रात बिताकर, उसके चरणोंके अलक्तक चिह्नको अपने अङ्गपर धारणकर, रात्रिशेषमें मेरी कुञ्जमें उपस्थित होते हैं और चातुरी-पूर्ण मिथ्या वचनोंसे उन अलक्तक चिह्नोंको गैरिक रंग बतलानेकी चेष्टा करते हैं; ये सब कुछ मैं जानती हूँ सखि ! किन्तु, फिर भी अपने देह-मन-प्राण, सभी कुछ उनके चरणोंमें अर्पित किये बिना रह नहीं सकती सखि ! वे मेरे प्राणवल्लभ जो ठहरे सखि !

यहाँपर लम्पट, शठ, धृष्ट, कपटी आदि शब्दोंसे ईर्ष्या भाव सूचित होता है।

श्रीराधा और श्रीकृष्णके बीच जो भाव-बन्धन है, ध्वंसका कारण उपस्थित होनेपर भी उसका ध्वंस नहीं होता—यही "**मोरे दिते मनः पीड़ा**'—इत्यादिमें बताया गया है। यही प्रेमका लक्षण है।

सर्वथा ध्वंसरहितं सत्यपि ध्वंसकारणे।
यद्भावबन्धनं यूनोः स प्रेमा परिकीर्तितः॥

(उ० नी० स्थायी० ५७)

श्रीकृष्ण जब दुःख देते हैं तब भी उनको प्राणनाथ क्यों कहा जाता है, उसका हेतु बताते हैं—

तत्सुख तात्पर्य

ना गणि आपन दुख, सबे वाञ्छि ताँर सुख,
ताँर सुखे आमार तात्पर्य्य ।
मोरे यदि दिले दुःख, ताँर हैल महासुख,
सेइ दुःख मोर सुखवर्य्य ॥

ना गणि आपन दुख—मैं अपने दुःखकी बात नहीं सोचती। अपना सुख या दुःखका अभाव मेरे अनुसन्धानका विषय नहीं; **सबे वाञ्छि ताँर सुख**—मैं एक मात्र उन श्रीकृष्णके सुखकी ही वाञ्छा करती हूँ, **ताँर सुखे आमार तात्पर्य्य**—उनका सुखविधान ही मेरा एक मात्र उद्देश्य है। मेरी जो कुछ चेष्टा है, सभी श्रीकृष्ण-सुखके निमित्त है, मेरा यह शरीर भी उनके सुखके निमित्त ही है। **मोरे यदि** इत्यादि—मुझे दुःख देनेसे यदि उनको अत्यन्त सुख होता है तो उनके द्वारा दिया गया वह दुःख ही मेरे लिये परम सुख है, क्योंकि इससे वे सुखी होते हैं, उनका सुख ही मेरा सुख है। **सुखवर्य्य**—श्रेष्ठ सुख, परम सुख।

सखि ! वे जब मुझे दुःख देते हैं तब भी वे मेरे प्राणवल्लभ क्यों हैं, सुनो,—मैं तो कभी भी अपना सुख नहीं चाहती सखि ! मैं कभी भी ऐसी आशा नहीं करती कि श्रीकृष्ण मुझे सुखी करें अथवा श्रीकृष्ण मुझे दुःख न दें। मैं तो चाहती हूँ केवल उनका सुख—मेरे देह, मन, प्राण—मेरी समस्त चेष्टाएँ—एक मात्र उनके सुख-विधानके निमित्त ही समर्पित हैं। मुझे दुःख देनेसे यदि वे सुखी होते हों, तो वे मुझे दुःख देते रहें—मैं यही चाहती हूँ; मेरा दुःख यदि उनके सुखका हेतु होता हो, तो वह दुःख मेरा दुःख नहीं, उस दुःखको मैं परम सुख मानकर अम्लान मुखसे वरण कर लूंगी सखि ! उनका सुख ही मेरे प्राणोंकी साध है, अतएव अपने सुखके हेतुभूत दुःखको जब वे मुझे देते हैं, तब तो वे मेरे प्राणोंकी कामना ही पूर्ण करते हैं, इसीसे वे तब भी मेरे प्राणनाथ हैं। प्राणनाथको छोड़कर प्राणोंकी कामना और कौन पूर्ण कर सकता है सखि ?

यहाँपर श्रीराधाका कृष्ण-सुखैक-तात्पर्यमय प्रेम प्रदर्शित होता है।

जे नारीके वाञ्छे कृष्ण, जार रूपे सतृष्ण,
तारे ना पाञा काहे हय दुखी ?
मुञि तार पाये पड़ि, लञा जाङ हाथे धरि,
क्रीड़ा कराञा करों ताँरे सुखी ॥

श्रीकृष्णके अन्य प्रेयसी-सङ्गसे भी श्रीराधाको स्वरूपतः दुःख नहीं होता, यह बतलाया जा रहा है। **जे नारीके वाञ्छे कृष्ण**—श्रीकृष्ण जिस रमणीकी वाञ्छा करें, सम्भोग करनेकी इच्छा करें, **जार रूपे सतृष्ण**—जिस रमणीकी रूप-सुधा पान करनेके निमित्त श्रीकृष्ण लालायित हैं, **तारे ना पाञा...**इत्यादि—उस रमणीको न पाकर श्रीकृष्ण दुःखी क्यों होते हैं ? उस नारीका अप्राप्तिजनित दुःख श्रीकृष्णको क्यों रहे ? मैं उस नारीको लाकर श्रीकृष्णको देकर उनको सुखी करूँगी।

यदि वह नारी श्रीकृष्णके पास आनेसे अनिच्छुक हो, तो उसको किस प्रकार लाया जायगा, सो वर्णन करते हैं।

मुञि तार पाये...इत्यादि—वह रमणी यदि श्रीकृष्णके साथ सङ्गममें अनिच्छुक हो तो मैं उसके पास जाकर, उसके पैर पकड़कर अनुनय विनय करूँगी, और उसको सम्मत करके उसको हाथसे पकड़कर श्रीकृष्णके पास ले जाऊँगी और उसके साथ क्रीड़ा करवाकर श्रीकृष्णको सुखी करूँगी।

सखि ! श्रीकृष्ण यदि किसी रमणीके रूपसे आकृष्ट होकर उसके साथ आनन्द उपभोग करनेके निमित्त लालायित हों और यदि वह रमणी कृष्ण-सङ्गकी इच्छा न करे, तो कृष्णके प्राणोंको कितना दुःख होगा ! मेरे प्राणकान्त श्रीकृष्णका यह दुःख मेरे प्राण किस प्रकार सह सकते हैं सखि ! मेरे प्राणवल्लभ कृष्णको मैं यह दुःख क्यों सहने दूंगी ? उस रमणीको लाकर मैं कृष्णका दुःख दूर करूँगी। मैं उसके घर जाऊँगी, जाकर उससे अनुनय विनय करूँगी, उसके पैरों पड़ूंगी, उसको सम्मत कराऊँगी—इसके उपरान्त मैं स्वयं उसका हाथ पकड़कर, लाकर अपने प्राणवल्लभके हाथमें उसे

अर्पण करूँगी, उसके साथ अपने प्राणवल्लभकी क्रीड़ा कराकर उनको सुखी करूँगी, अपने प्राणोंकी गूढ़तम साधको पूर्ण करूँगी।

श्रीकृष्णको सुखी करनेके निमित्त व्रजगोपियोंको कितनी व्याकुलता रहती थी, वही यहाँ प्रदर्शित हुई है। यहाँ वाह्य सम्भोगादिका प्राधान्य नहीं है, प्राधान्य है—श्रीकृष्ण सुखके निमित्त व्याकुलताका। वाह्य आचरण तो उस व्याकुलताकी एक अभिव्यक्ति मात्र हैं।

प्रणय-रोष

कान्ता कृष्णे करे रोष, कृष्ण पाय सन्तोष,
सुख पाय ताड़न भर्त्सने।
यथा योग्य करे मान, कृष्ण ताते सुख पान,
छाड़े मान अलप साधने॥

प्रश्न उठ सकता है कि कृष्णसुखके निमित्त, यदि कृष्णकी अभिप्रेत रमणीको पैर पकड़कर भी, श्रीकृष्णके साथ मिलानेको जब श्रीराधा प्रस्तुत हैं, एवं स्वयं चेष्टा करके भी उनका मिलन कराके श्रीकृष्णको सुखी कर सकनेपर अपनेको कृतार्थ मान सकती हैं, तो श्रीकृष्णके अन्य गोपियोंकी कुञ्जमें गमनादि पर श्रीराधा मान क्यों किया करतीं? श्रीकृष्णको ताड़न-भर्त्सन ही क्यों करतीं? इसका उत्तर इस त्रिपद छन्दमें बताया है।

रोष—प्रणयरोष; रोषाभास। रोषका साधारण अर्थ है क्रोध; अनिष्ट साधन ही रोषका तात्पर्य होता है, जिस प्रकार शत्रुके प्रति रुष्ट होकर लोग उसका अनिष्ट करते हैं, वध तक कर डालते हैं; किन्तु शिशु-पुत्रके प्रति स्नेहमयी जननीका, प्रणयीके प्रति प्रणयिनीका जो रोष समय-समयपर देखा जाता है, शिशुका या प्रणयीका अनिष्ट-साधन या मनः कष्ट उत्पादन उस रोषका उद्देश्य नहीं होता—शिशुका मङ्गल-विधान, प्रणयीका सुखोत्पादन या सुखोत्पादनका हेतु निर्माण ही इस प्रकारके रोषका उद्देश्य होता है; स्नेह या प्रणय ही इस प्रकारके रोषकी भित्ति होती है। किन्तु

शत्रुके प्रति जो रोष होता है, हिंसा ही उसकी भित्ति होती है। हिंसामूलक रोष ही वास्तविक रोष है और स्नेहमूलक या प्रणयमूलक रोषको रोष न कहकर रोषाभास कहना ही सङ्गत है—यह देखनेमें रोष जैसा दीखता है, किन्तु वास्तविक रोष नहीं है, इसका उद्देश्य रोषके विपरीत होता है। श्रीकृष्णके प्रति व्रजसुन्दरियोंका जो रोष है वह भी प्रणय-रोष या रोषाभास है।

साधारण रोष और प्रणय-रोषमें यही भेद है कि सुख-भोगमें विघ्न होनेसे विघ्नकारीके ऊपर रोष उत्पन्न होता है और प्रिय व्यक्ति स्वयं यदि कोई ऐसा कार्य करते हैं, जिससे उनके अपने दुःखकी सम्भावना हो तो उनके ऊपर प्रणय-रोष उत्पन्न होता है। रोषके मूलमें होता है आत्म-सुखानुसन्धान और प्रणय-रोषके मूलमें होता है प्रिय-सुखानुसन्धान।

कान्ता कृष्णे करे रोष, कृष्ण पाय सन्तोष—कृष्णकान्ता कोई भी गोपी यदि कृष्णके प्रति प्रणय-रोषका प्रकाश करे, तो कृष्ण अत्यन्त सन्तुष्ट होते हैं। जिनके बीच अत्यन्त स्नेह या प्रणयका बन्धन होता है, ऐसे नितान्त निज-जनके अतिरिक्त और कोई प्रणय-रोष नहीं दिखा सकते। मदीयतामय भावकी, नितान्त अपनेपनकी अभिव्यक्ति विशेष ही प्रणय-रोष है। इसीसे वह आस्वाद्य है, सन्तोषजनक है, क्योंकि मदीयतामय भावकी कोई भी अभिव्यक्ति सबकी सन्तुष्टिका कारण होती है।*

---

*श्रीकृष्ण-प्रेयसी व्रज-सुन्दरयाँ मानवती होकर कई बार श्रीकृष्णका तिरस्कार किया करतीं, किन्तु श्रीकृष्ण उससे रुष्ट नहीं होते। वरं इतना आनन्दका अनुभव करते हैं जो वेद-स्तुति सुननेसे भी उनको कभी उतना आनन्द नहीं होता। व्रजसुन्दरियोंके निर्मल प्रेमसे श्रीकृष्ण उनके इतने वशमें हो गये थे कि अपरिशोधनीय ऋणसे बँधकर उनने स्वयं श्रीमुख से स्वीकार किया :—

न पारऽयेहं निरवद्य संयुजां स्वसाधुकृत्यं विबुधायुषापि वः।
या मा भजन् दुर्जरगेहश्रृङ्खलाः संवृश्च्य तद् वः प्रतियातु साधुना॥

(श्रीम. भा. १०।३२।२२)

श्रीराधिकाके मानभंजनके निमित्त स्वयं भगवान होकर भी श्रीकृष्ण 'देहि पद पल्लवमुदारम्'' कहकर श्रीराधाके चरणोंमें गिर पड़े थे।

जिस कार्यसे कृष्णके दुःखी होनेकी श्राशंका है, ऐसा कोई भी कार्य कृष्ण करें, तभी श्रीराधिकादि मानवती होकर उनके प्रति प्रणय-रोष प्रकट किया करती हैं। ग्रन्य रमणीकी कुञ्जमें श्रीकृष्णके जानेसे श्रीराधिकादि ग्रनेक ग्रवसरोंपर रुष्ट होती हैं, क्योंकि इससे कृष्णको कष्ट होनेकी सम्भावना है—ऐसा श्रीराधिकादि मानती हैं। हो सकता है कि ग्रन्य रमणी श्रीकृष्णके मर्मको समझकर सेवा न कर सकें, हो सकता है कि श्रीकृष्णके कुसुम-कोमल ग्रङ्गोंपर कङ्कणके दाग बना दें, इससे श्रीकृष्णको ग्रत्यन्त कष्ट हो सकता है, इस प्रकारकी ग्रमर्मज्ञा रमणीके पास कष्ट भोगनेको श्रीकृष्ण क्यों जायें—यही सोचकर श्रीराधिकादिको श्रीकृष्णके प्रति प्रणय-रोष होता है। इसकी उत्पत्ति श्रीकृष्णसुख-वासनासे है, इसीसे यह श्रीकृष्णकी सुख पोषक है। जहाँपर श्रीकृष्णके कष्टकी ग्राशंका नहीं होती है, वहाँपर श्रीराधा स्वयं ही कौशलपूर्वक श्रीकृष्णको ग्रन्य रमणीके निकट भेज देती हैं—जैसे ग्रपनी सखियोंके निकट।

*यद्यपि सखीर कृष्ण-सङ्गमे नाहि मन। तथापि राधिका यत्ने कराय सङ्गम् ॥**
नाना छले कृष्ण प्रेरि सङ्गम कराय। ग्रात्म-कृष्णसङ्ग हैते कोटि सुख पाय ॥
(चै० च० म० ८।१७१-१७२)

यद्यपि सखीका श्रीकृष्णसे मिलनेका कोई मन नहीं है, तो भी श्रीराधा यत्नपूर्वक उन्हें मिलाती हैं। ग्रनेक कौशल द्वारा कृष्णको भेजकर मिलाती हैं, ग्रौर श्रीकृष्णके ग्रपनेसे मिलनेसे भी बढ़कर कोटिगुणा सुख पाती हैं।

प्रेमकी स्वभाव-सिद्ध कुटिलतावश बिना कारण भी ग्रनेक समय श्रीराधिकादि कान्तागण श्रीकृष्णके प्रति प्रणय-रोष प्रकाश करती रहती हैं। प्रणयकी वैचित्रीसे उत्पन्न होनेके कारण यह भी श्रीकृष्णके लिये ग्रत्यन्त सन्तोषजनक होता है। यह भी मदीयतामय भावका प्रकाशक है।

*'गोपीप्रेमकी कामगन्धहीनता' शीर्षक प्रबन्ध देखिये।

सुख पाय ताड़न-भर्त्सने—अन्य रमणीके निकट जानेसे श्रीराधा मानमें भरकर श्रीकृष्णका जब तिरस्कार, भर्त्सना करती हैं, अथवा अपनी कुञ्जसे निकाल देती हैं, तब श्रीकृष्ण अत्यन्त सुख पाते हैं। श्रीकृष्णने स्वयं कहा है—

प्रिया यदि मान करि करये भर्त्सन। वेद-स्तुति हैते सेइ हरे मोर मन ॥

(चै० च० आ० ४।२३)

यदि मान-धारण करके प्रिया भर्त्सना करती है तो वह कार्य वेद-स्तुतिसे भी बढ़कर मेरा मन हरण करता है।

यथायोग्य—श्रीकृष्णकी प्रीतिके निमित्त जितनी मात्रामें मानकी आवश्यकता हो।

मान—परस्पर अनुरक्त नायक-नायिकाके मनोगत जो भाव होते हैं, उनके अभीष्ट आलिङ्गन-वीक्षणादिमें बाधा उत्पन्न करे, ऐसे उपयुक्त विभावादिके संयोगसे जो भाव होता है उसको मान कहते हैं।

दम्पत्योर्भाव एकत्र सतोरप्यनुरक्तयोः।
स्वाभीष्टाश्लेषवीक्षादिनिरोधी मान उच्यते ॥

(उ० नी० शृङ्गार० मान० ६८)

यथायोग्य करे मान—जितना-सा मान करनेसे श्रीकृष्णकी प्रीति सम्पादित हो, उतना ही मान करती हैं। मानकी अवस्थामें श्रीराधाके साथ मिलनेके लिये श्रीकृष्ण जब अनुनय-विनयादि करते रहते हैं तब श्रीराधा नाना प्रकारके भावोंसे मिलनमें बाधा देती हैं। जब देखती हैं कि और अधिक बाधा देना उपयुक्त नहीं होगा, तब वे मान छोड़कर श्रीकृष्णसे मिल जाती हैं।

छाड़े मान अलप साधने—श्रीकृष्णके थोड़ेसे अनुनय विनय करनेसे ही श्रीराधा मान छोड़ देती हैं। इससे कोई यह न समझे कि श्रीकृष्ण-कान्ता श्रीराधाका यह मानका भाव हृदयोत्थित नहीं है, एक अभिनय मात्र है। वास्तवमें यह अभिनय नहीं है। अभिनय कपटतामय होता है, वह सुख

पोषक नहीं होता। मान एक हृदयोत्थित भाव है, नहीं तो इससे सञ्चारिभावका उद्‌गम असम्भव होता। लीलाशक्तिके प्रभावसे श्रीराधाके हृदयसे ही कृष्णसुख पोषणके निमित्त मानका यह भाव उदय होता है। क्योंकि इस मानके मूलमें श्रीकृष्णकी सुख-वासना विद्यमान है, अतएव श्रीकृष्णके अनुनय-विनय और कातरता आदि दिखाने पर उनके दुःखकी आशंका करके मानवती श्रीराधा थोड़ेमें ही मान छोड़ देती हैं !

कान्ता कृष्णे करे रोष से लेकर **अलप साधने तक :**—श्रीराधिकाजी कहती हैं—"सखि ! तुम लोग सम्भवतः कह सकती हो कि श्रीकृष्णकी अभिप्रेय अन्य रमणीको अनुनय-विनयके द्वारा, कृष्णके साथ मिलाकर उनको सुखी करनेको प्रस्तुत हूँ, तो कृष्णके अन्य कुञ्जादिमें जानेसे मैं मान क्यों करती हूँ ? उनका ताड़न-भर्त्सन ही क्यों करती हूँ ? इसका उत्तर सुनो। सखि ! तुम लोग तो जानती हो कि रसिक-शेखर श्रीकृष्णकी कोई भी प्रेयसी यदि उनके ऊपर रुष्ट होकर उनका तिरस्कार करे, या अपनी कुञ्जसे निकाल दे, तो इससे कृष्ण अतिशय सुखी होते हैं। इसीलिये उनकी प्रेयसीगण कारणवश या बिना कारण ही उनसे मान करती रहती हैं और कृष्ण भी उससे अत्यन्त सुखी होते हैं। वे मान तो अवश्य करती हैं किन्तु कृष्णके थोड़ेसे ही अनुनय-विनय करनेपर मान छोड़ देती हैं—नहीं तो, कृष्णके कोमल प्राणोंमें व्यथा हो सकती है। सखि ! अपने सुखमें बाधा होती है, इसलिये कृष्णकान्तागण कृष्णके ऊपर मान नहीं करतीं, अपितु वे मान करतीं हैं कृष्णसुखके निमित्त और मान छोड़ भी देती हैं कृष्णसुखके निमित्त।"

सेइ नारी जिये केने, कृष्णेर मर्म्मव्यथा जाने,
तभु कृष्णे करे गाढ़ रोष।
निज सुखे माने काज, पड़ु तार शिरे बाज,
कृष्णेर मात्र चाहिये सन्तोष॥

पूर्व त्रिपदीके "**छाड़े मान अलप साधने**" वाक्यसे सूचित होता है कि कृष्णकान्तागण श्रीकृष्णके प्रति जो रोष प्रकट करती हैं, वह गाढ़ रोष नहीं

होता है, रोषका आभास मात्र होता है; इसीसे थोड़ेसे अनुनय-विनयसे वह दूर हो जाता है। वास्तवमें जो कृष्णका सुख चाहती हैं, वे कभी भी कृष्णके प्रति गाढ़ रोष प्रकट नहीं कर सकतीं; किन्तु, जो अपने सुखकी कामना करती हैं, वे कृष्णके मर्मको नहीं समझ सकतीं—वे कृष्णके प्रति गाढ़ रोष प्रकट करती रहती हैं।

जीये केने—क्यों जीवन धारण करती हैं? जीवित क्यों रहती हैं?

कृष्णेर मर्म्म-व्यथा जाने—किस प्रकारके व्यवहारसे कृष्णके प्राणोंको दुःख होगा—इसको वह जानती है। कान्ताके गाढ़ रोषसे श्रीकृष्णके प्राणोंमें व्यथा होगी—यह वह जानती है। **तभु**—कृष्णकी मर्मव्यथा जानकर भी।

गाढ़ रोष—उसको कहते हैं जो सहजमें दूर न हो। "गाढ़" शब्दका अर्थ है गाढ़ा। शरीरमें यदि मिट्टी लग जाय तो जलसे धोनेपर ही साफ हो जाती है। शरीरपर लगी हुई मिट्टी यदि खूब गाढ़ी हो, तो उस मिट्टीको धोनेमें बहुत समय लग जाता है और उसको साफ करनेमें बहुत कष्ट भी सहना पड़ता है। और यदि वह मिट्टी पतली हो, तो अति सहजमें दूर की जा सकती है, दो-एक बार धोनेसे ही काम चल जाता है। रोषके सम्बन्धमें भी वही बात है। यदि रोष सामान्य मात्र हो तो दो-एक अनुनय-विनयसे आँसुओंकी दो-एक बूँदोंसे दूर हो सकता है, किन्तु अत्यन्त गाढ़ा रोष होनेपर, वह सहजमें दूर नहीं होता—उसको दूर करनेके लिये प्रणयी नायकको बहुत देर तक अनेक कष्ट सहने पड़ते हैं।

निज सुखे माने काज—अपने सुखको ही प्रधान कार्य मानती है। जो रमणी कृष्णके प्रति गाढ़ा रोष दिखाती है, वह अपने सुखको ही प्रधान कार्य मानती है। कृष्ण उसकी जितनी खुशामद—मनौती करते हैं उसके चित्तमें उतना ही आनन्द होता है, इसीलिये दीर्घकाल तक वह अपने रोषको बनाये रखती है, जिससे कि कृष्ण बहुत देर तक खुशामद करके उसको सुख देते रहें। किन्तु इस प्रकार बहुत देर तक खुशामद करते रहनेसे और दीर्घ काल तक प्रेयसीके अप्रिय भाजन बने रहनेसे कृष्णके प्राणोंमें कितनी व्यथा होती है उसके प्रति उस अभागिनीका लक्ष्य ही नहीं रहता। उसके लिये अपना सुख ही एक मात्र लक्ष्य है।

अथवा **निज सुखे माने काज**—अपने सुखके निमित्त ही मान-विषयमें उसकी प्रवृत्ति है, कृष्ण द्वारा अनुनय-विनयादि प्राप्त करके अपने प्राणोंमें सुखका अनुभव करनेकी आशासे वह रमणी मान करती है, कृष्णको सुख देनेके उद्देश्यसे वह मान नहीं करती।

पड़ु तार शिरे बाज—उस रमणीके शिरपर वज्र गिर पड़े—वज्रपात होकर उसकी अकस्मात् मृत्यु हो जाय। जो रमणी कृष्णका सुख नहीं चाहती, केवल अपने सुखके निमित्त ही कृष्णको कष्ट देती है, उसके सिरपर वज्र गिर पड़े।

श्रीराधा कहती हैं—"सखि! जो नारी कृष्णका मर्म जानती है कि किससे कृष्णको सुख होता है और किससे दुःख होता है, वह निश्चय ही समझ सकती है कि कान्ताके गाढ़े रोषसे कृष्णके प्राण अत्यन्त व्यथित होते हैं। यह जानकर भी जो नारी कृष्णके प्रति गाढ़ा रोष प्रकट करती है—वह कृष्णका सुख नहीं चाहती; अपना सुख ही उसका एक मात्र लक्ष्य है। उसका रोष दूर करनेके लिये श्रीकृष्ण उसका अनुनय-विनय करेंगे—इसीलिये वह रोष करती है; कृष्णके अनुनय-विनयसे उसके प्राणोंको सुख मिलता है, इसीसे वह शीघ्र अपना रोष नहीं छोड़ती, क्योंकि रोष छोड़ते ही अनुनय-विनय बन्द होकर उसके सुखका स्रोत बन्द हो जायगा। ऐसी स्वसुख-तत्परा नारी क्यों जीवित रहती है? वह जीवित रहकर क्यों कृष्णको कष्ट देनेमें हेतु बनती है? ऐसी रमणीका जितना शीघ्र प्राणान्त हो जाय, उतना ही मंगल है, कृष्णके लिये दुःखकी सम्भावना उतनी ही कम हो जायगी। ऐसी हतभाग्या रमणीके सिरपर वज्रपात क्यों नहीं होता? ऐसी रमणीका शीघ्र प्राणान्त हो जाय जिससे कृष्णके सुखकी वृद्धि हो। मैं चाहती हूँ एक मात्र कृष्णका सुख, इसके अतिरिक्त मेरी और कोई कामना नही।"

किसी-किसी ग्रन्थमें "**मर्म्म व्यथा**" के स्थानपर "मर्म्म नाहि" पाठ है। इसका अर्थ है—जो नारी कृष्णका मर्म नहीं जानती। जो कृष्णका मर्म समझती है उसके ही लिये कृष्णके प्रति प्रणय-रोष प्रकट करना शोभा देता है, क्योंकि वह समझ सकती है कि कितने रोषसे कृष्णके सुखका सृजन हो सकता है। किन्तु जो कृष्णका मर्म नहीं जानती, उसके लिये प्रणय-रोष

प्रकाश करना उपयुक्त नहीं। आत्म-सुख-सर्वस्वा नारी कृष्णके मर्मको न जानकर भी कृष्णके प्रति रोष प्रकट करती रहती है।

"निजे सुख माने काज" की जगह *"निज सुख माने लाभ"* पाठान्तर भी है। इसका अर्थ है—अपने सुखको ही लाभ मानती है।

"तार शिरे" के स्थानपर *"तार मुण्डे"* पाठान्तर भी है। मुण्डेका अर्थ—माथे पर, मस्तकपर।

श्रीकृष्णसुखैकतात्पर्यमय भाव

जे गोपी मोर करे द्वेषे, कृष्णेर करे सन्तोषे,
कृष्ण जारे करे अभिलाष।
मुञि तार घरे जाञा, तारे सेवों दासी हञा,
तबे मोर सुखेर उल्लास॥

श्रीराधा केवल कृष्ण सुख ही चाहतीं हैं, और कुछ नहीं चाहतीं—इसको और भी विशेष रूपसे बताया जा रहा है। श्रीराधिकाके प्रति द्वेष भाव रखने वाली कोई भी गोपी यदि श्रीकृष्णके लिये सुख-साधक-रूप होती है, तो वह गोपी भी श्रीराधिकाके लिये प्राणोंके समान प्रिय है।

जे गोपी मोर से लेकर **सुखेर उल्लास** पर्यन्त :—

"सखि! कोई भी गोपी यदि मुझे अत्यन्त विद्वेष पूर्ण दृष्टिसे देखती है, किन्तु मेरे प्राणवल्लभ श्रीकृष्ण यदि उसके प्रति अनुरक्त हों, उसके साथ संगम आदिकी इच्छा करें, और वह गोपी मेरे प्राणवल्लभके अभीष्ट सङ्गमादि द्वारा, उनका सन्तोष विधान करे, तो सखि! मेरे प्रति विद्वेष-परायणा होनेपर भी उस गोपीको मैं अपने प्राणोंकी अपेक्षा भी प्रिय मानूँगी, वह मेरे प्राणवल्लभके सुखकी साधन जो ठहरीं। सखि! मैं उसका ऋण किस प्रकार चुका सकूँगी? उस गोपीके घर जाकर, उसकी दासी बनकर, यदि मैं उसकी सेवा कर सकूँ, तभी मैं सुखी हो सकूँगी।

यहाँ पर सेवाके लिये उत्कण्ठा, दैन्य और विनय प्रकट होती है। प्राणवल्लभके सुख-साधनकी कोई भी वस्तु, व्यक्तिगत भावसे अपनी अप्रिय होनेपर भी, शुद्ध-प्रेमवती श्रीराधिकाके लिये अप्रिय नहीं होती, अपितु परम प्रीतिकी वस्तु बनी रहती है। श्रीकृष्णसुख-तात्पर्यमय प्रेमका ऐसा ही स्वभाव होता है। जहाँपर प्रेम होता है, वहाँ व्यक्तिगत विषयकी चिन्ताका अवकाश कहाँ? वहाँ व्यक्तित्व ही नहीं रहता। प्रेमकी बाढ़में वहाँ व्यक्तित्वका विसर्जन कर दिया जाता है; इस व्यक्तित्वको विसर्जन करके ही प्रेम समुद्रमें कूदना होता है।

कुष्टि विप्रेर रमणी, पतिव्रता शिरोमणि,
पति लागि कैल वेश्यार सेवा।
स्तम्भिल सूर्य्येर गति, जीयाइल मृत पति,
तुष्ट कैले मुख्य तिन देवा॥

पूर्वोक्त त्रिपदीमें श्रीराधाने जो कहा है, उसकी वास्तविकताको कुष्टि विप्रकी रमणीके दृष्टान्त द्वारा प्रतिपादित करतीं हैं। वह उपाख्यान इस प्रकार है:—

अत्यन्त दरिद्र एक विप्र था, जिसके सर्वाङ्गमें गलित कुष्ट था। उसकी पत्नी थी अत्यन्त साध्वी, पतिगतप्राणा; पतिका सुखविधान ही उसके जीवनका एक मात्र व्रत था। किन्तु उसका पातिव्रत्य भी विप्रके मनको सम्पूर्ण रूपसे वशीभूत नहीं कर सका। एक सुन्दरी वेश्याके रूपपर वह विप्र मुग्ध हो गया। एक तो नितान्त दरिद्र, उसपर भी गलित कुष्ट जैसे घृणित रोगसे आक्रान्त; अपनी अभीष्ट सिद्धिकी कोई भी सम्भावना न देखकर वह विप्र अपने मनमें बहुत दुखी हुआ। किसी प्रकार एक बार वेश्याको देख पावे तो ही उसके प्राण बचें। किन्तु उसकी भी सम्भावना नहीं थी, क्योंकि विप्र स्वयं चलनेमें असमर्थ था। इससे वह जीवित ही मरे हुएके तुल्य हो गया। उसकी पतिव्रता पत्निने पतिके मनके दुःखको जानकर उस दुःखको दूर करनेका संकल्प किया। धन नहीं—जिससे वेश्याको वशमें किया जा सके। पति-सुख-सर्वस्वा वह विप्रपत्नि, व्यक्तिगत न्याय-अन्यायकी

बातको भुलाकर, स्वयं दासीकी तरह उस वेश्याकी सेवा करनेमें प्रवृत्त हुई और सेवा द्वारा वेश्याको सन्तुष्ट किया। इसके पश्चात् उस वेश्याने विप्र-पत्नीका अभिप्राय जानकर उसके स्वामीसे मिलनेकी तो स्वीकृति दी, लेकिन अपने घरपर; वह उस विप्रके घर जानेको राजी नहीं हुई। विप्रपत्नी उल्लासपूर्वक स्वामीको लेने गई। विप्रकी चलनेकी शक्ति नहीं, इससे विप्रपत्नी रात्रिके समय अपने स्वामीको अपनी पीठपर चढ़ाकर वेश्याके घर ले जाने लगी। मार्गमें माण्डव्य मुनि शूलीके ऊपर बैठे समाधिस्थ थे। दैव-विडम्बनासे कुष्टिविप्रके स्पर्श द्वारा उनकी समाधि भङ्ग हो गई—क्रोधमें मुनिने शाप दे दिया 'सूर्योदय होते ही विप्रकी मृत्यु हो जाय'। शाप सुनकर पतिव्रता विप्रपत्नीने महान् अनर्थकी संभावना करली, कि मुनिवरने उसीके वैधव्यकी व्यवस्था कर दी है, सूर्योदय होते ही वह विधवा हो जायगी, मुनिका शाप व्यर्थ नहीं हो सकता। अपनी वैधव्य-यन्त्रणाकी बात सोचकर उस विप्र-पत्नीको दुःख हुआ हो, सो बात नहीं, स्वामी अतृप्त वासना लेकर मर जायेंगे, यही सोचकर वह दुःखी हुई। जिससे विप्रकी सहसा मृत्यु न हो सके, उसके उपायके लिये विप्र-पत्नीने कहा—"यदि मैं पतिव्रता हूँ तो इस रात्रिका प्रभात नहीं होगा।" सतीके वाक्य व्यर्थ नहीं हो सकते—सूर्यकी गति रुक गई; सूर्य जिस स्थानपर थे, वहीं रह गये; रात्रिका प्रभात नहीं हुआ। सूर्योदय न होनेसे पृथ्वीपर नाना प्रकारके अनर्थ होने लगे। तब ब्रह्मा, विष्णु, महेश—ये तीनों देवता घटनास्थलपर आ उपस्थित हुए। वे विप्र-पत्नीको समझाकर बोले कि वह सूर्योदयके लिए सम्मति दे दें; सूर्योदय होनपर मुनिके शापसे उनके स्वामीकी मृत्यु अवश्य होगी, किन्तु वे तत्क्षण उसके स्वामीको पुनः जीवित कर देंगे। उनकी बातसे आश्वस्त होकर विप्र-पत्नीने सूर्योदयकी सम्मति दे दी; रात्रिका प्रभात हुआ। विप्र एक बार मरे अवश्य; किन्तु ब्रह्मा, विष्णु, महेशकी कृपासे फिर जी उठे—कुष्टमय देहके साथ नहीं, अपितु उनका रोग दूर हो गया, उन्हें सुन्दर देह मिली और ब्रह्मादिके दर्शनके प्रभावसे उनकी वेश्यामें आसक्ति भी दूर हो गयी।

कुष्टि—कुष्ट रोग ग्रस्त। **रमणी**—पत्नी। **कुष्टिविप्रेर रमणी**—गलित कुष्ट रोग ग्रस्त ब्राह्मणकी पत्नी। **पतिव्रता शिरोमणि**—पतिव्रता रमणियोंमें श्रेष्ठ, क्योंकि पतिके सुखके निमित्त स्वयं उन्होंने वेश्याकी सेवा

तक की थी। **पति लागि**—पतिके सुखके निमित्त। **कैले वेश्यार सेवा**—सेवा शुश्रूषा द्वारा वेश्याको सन्तुष्ट किया। **स्तम्भिल सूर्य्येर गति**—सूर्यकी गतिको स्तम्भित कर दिया, सूर्य और आगे नहीं बढ़ सके, जहाँ थे वहीं रह गये। "मैं यदि पतिव्रता हूँ, तो इस रात्रिका प्रभात नहीं होगा"—विप्र-पत्नीके इन वाक्योंके फलस्वरूप सूर्यकी गति रुक गई, सूर्योदय नहीं हो सका और रात्रिका प्रभात भी नहीं हुआ।

जियाइल मृत पति—माण्डव्य मुनिके श्रापसे रात्रिका प्रभात होते ही विप्र-पत्नीके स्वामीकी मृत्यु हो गई थी। उनके पातिव्रतके माहात्म्यसे, ब्रह्मा-विष्णु-महेशकी कृपाके कारण मृत विप्र जीवित हो उठे।

मुख्य तिन देवा—ब्रह्मा, विष्णु और महेश—इन तीनों देवताओंको। **तुष्ट कैला** इत्यादि—पतिव्रता विप्र-पत्नीने ब्रह्मा, विष्णु और महेशको प्रसन्न किया। उनके अनुरोधसे विप्रपत्नीने सूर्योदय होनेकी अनुमति दे दी थी, इससे वे प्रसन्न हो गये थे; विशेषतः विप्रपत्नीका पातिव्रत देखकर वे इतने प्रसन्न हुए थे कि उन्होंने उसके मृत पतिको जीवित तो कर ही दिया, साथ ही उसके घृणित रोगको दूर करके उसे सुन्दर शरीर भी दे दिया तथा उसकी वेश्यामें आसक्ति भी नष्ट कर दी।

कृष्ण मोर जीवन, कृष्ण मोर प्राणधन,
कृष्ण मोर प्राणेर पराण।
हृदय उपरे धरों, सेवा करि सुखि करों,
एइ मोर सदा रहे ध्यान॥

सखि! कृष्ण ही मेरे जीवन हैं, उनके बिना मैं जीवित नहीं रह सकती। कृष्ण मेरे प्राणोंकी अपेक्षा भी प्रिय धन हैं सखि! कृष्ण मेरे प्राणोंके भी प्राण हैं। इसीसे कृष्णको—मेरे हृदयके हृदय कृष्णको—हृदयमें रखकर, सेवा करकर किसी प्रकार सुखी कर सकूँ—यही मेरी एक मात्र अभिलाषा है—यही मेरा ध्यान है, यही मेरा जप-तप है—सब कुछ यही है। यहाँ

उत्कण्ठाका प्रकाश है। **एइ मोर सदा रहे ध्यान**—"सखि! किस प्रकार कृष्णको सुखी कर सकूँ, यही चिन्ता मैं सर्वदा करती रहती हूँ।"

मोर सुख सेवने, कृष्णेर सुख सङ्गमे,
अतएव देह देङ् दान।*
कृष्ण मोरे 'कान्ता' करि, कहे 'तुमि प्राणेश्वरी',
मोर हय दासी अभिमान॥

प्रश्न उठ सकता है कि श्रीराधा कृष्ण-सुखके अतिरिक्त और कुछ भी कामना नहीं करती, अपना सुख वे तनिक भी नहीं चाहतीं, तब उन्होंने अपना शरीर श्रीकृष्णको दान क्यों किया? अपनी देहको श्रीकृष्णकी क्रीड़ाकी सामग्री क्यों बनाया? श्रीकृष्णकी सेवा करनेसे ही तो तृप्ति हो सकती थी? फिर श्रीकृष्णके साथ सङ्गम* आदि क्यों करती हैं? इसके समाधानमें श्रीराधा कहती हैं—

मोर सुख सेवने—श्रीकृष्णकी सेवामें ही मुझे सुख है, *सङ्गममें मेरी कोई वासना नहीं है—यहाँपर 'सेवा' शब्दसे रति-क्रीड़ामूलक सङ्गमके अतिरिक्त पाद-सेवनादि श्रीकृष्णके सुखोत्पादनके अन्य उपायोंकी ओर संकेत किया गया है।

कृष्णेर सुख सङ्गमे—किन्तु यदि मेरे साथ सङ्गममें ही श्रीकृष्ण अपनेको सुखी अनुभव करते हैं, तो सङ्गममें मेरी अपनी इच्छा न रहनेपर भी, मैं उनके सुखके प्रति लक्ष्य रखकर, उनकी सुख-साध-रूप अपनी इस देहको उनके चरणोंमें अर्पितकर उनकी क्रीड़ा-सामग्री बना देती हूँ। जिस प्रकार श्रीकृष्णका सुख ही श्रीराधाका सुख है, उसी प्रकार श्रीराधाका सुख श्रीकृष्णका सुख है। श्री राधाकी तरह श्रीकृष्णमें भी स्वसुख वासना नहीं है, भक्त-चित्त-विनोदन ही श्रीकृष्णका व्रत है। **'मदभक्तानां विनोदार्थं करोमि विविधाः क्रियाः'** यही श्रीकृष्णकी मुखोक्ति है। श्रीराधाके साथ श्रीकृष्णकी सङ्गम-इच्छाके मूलमें श्रीराधाका सुख-विधान ही निहित है, अपना स्वयंका सुख-विधान नहीं।

*'गोपीप्रेमकी कामगन्धहीनता' शीर्षक प्रबन्ध देखिये।

अतएव देह देङ् दान—सङ्गममें मेरी अपनी इच्छा न रहनेपर भी, श्रीकृष्ण जब मेरे साथ सङ्गमकी इच्छा करते हैं, मेरे साथ सङ्गम कर सकने पर ही श्रीकृष्ण अपनेको सुखी मानते हैं, तब उनके सुखके प्रति लक्ष्य रखकर, उनके सुख-साधन रूप मेरी इस देहको मैं उनके चरणोंमें अर्पणकर देती हूँ—उनकी क्रीड़ा सामग्री बना देती हूँ।*

कृष्ण मोरे कान्ता करि—अपनी कान्ता सदृश मेरे साथ व्यवहार करके —लोग अपनी कान्ताकी देहको जिस प्रकार सम्भोगकी वस्तु बना लेते हैं, श्रीकृष्ण उसी प्रकार मेरी देहको अपनी भोग सामग्री बनाकर मुझे कान्तात्व प्रदान करें, और **'कहे तुमि प्राणेश्वरी'** —मुझे अपनी प्राणेश्वरी कहकर सम्बोधन करें (*'कहे तुमि प्राणेश्वरी'* के स्थानपर *'कहे मोरे प्राणेश्वरी'* पाठान्तर भी है), **मोर हय दासी अभिमान**—वे मुझे प्राणेश्वरी कहकर भी सम्बोधन करें तो भी—मैं अपनेको उनकी प्राणेश्वरी न मानकर, उनकी दासी मात्र ही समझती हूँ।

श्रीकृष्णने श्रीराधाकी देहका उपभोग करके श्रीराधाको अपना कान्तात्व और प्राणेश्वरित्व प्रदान किया है और स्वयं भी अपने प्राणोंके अन्तस्तलसे उनको "प्राणेश्वरी" कहकर सम्बोधन करते हैं, तो भी श्रीराधाके मनमें श्रीकृष्णके प्राणेश्वरीपनका अभिमान जाग्रत नहीं होता—श्रीकृष्णकी दासीपनका अभिमान ही सर्वदा उत्थित होता है। यही श्रीराधाका श्रीकृष्ण-सुखैक-तात्पर्यमय प्रेमका माहात्म्य सूचित करता है।

श्रीकृष्णकी जो प्राणेश्वरी होंगी, उनको श्रीकृष्णके देह, मन, प्राणके साथ क्रीड़ा करनेका अधिकार भी होगा, क्योंकि वे, श्रीकृष्णके प्राणोंकी ईश्वरी होनेसे, उनके देह-मनकी भी ईश्वरी हैं। अतः श्रीकृष्ण उनके सुख-साधनकी वस्तुके रूपमें परिगणित होने लगेंगे। श्रीकृष्णकी प्राणेश्वरीपनका अभिमान जिनको है, उनके लिए श्रीकृष्णके देह, मन, प्राण उनका सुख-साधन-रूप है—ऐसी धारणा भी उनको स्वभावतः होगी। किन्तु श्रीकृष्णको अपना सुख-साधन-रूपी-वस्तु श्रीराधा कभी भी नहीं मानतीं—इस प्रकारकी धारणाकी छाया भी उनके मनमें स्थान नहीं पाती। अतः श्रीकृष्णकी प्राणेश्वरीपनका अभिमान किसी भी समय उनके चित्तमें स्थान नहीं पाता।

*'गोपीप्रेमकी काम-गन्ध हीनता' और 'गोपियोंका विशुद्ध प्रेम' शीर्षक प्रबन्ध देखिये।

श्री राधा चाहती हैं—अपने सुख-दुखके भावको तिलाञ्जलि देकर, दासीकी तरह सेवा करके, सब प्रकारसे श्रीकृष्णका सुखोत्पादन करना। इसीसे 'मैं श्रीकृष्णकी दासी हूँ'—यही अभिमान सदा उनके चित्तमें जाग्रत रहता है।

सेवा-सुखकी विशेषता

कान्तसेवा सुखपूर, सङ्गम हैते सुमधुर,
ताते साक्षी लक्ष्मी ठाकुराणी।
नारायणेर हृदे स्थिति, तभु पाद-सेवाय मति,
सेवा करे दासी-अभिमानी॥

कान्तके साथ सङ्गम-सुखकी अपेक्षा उनके पाद-सम्वाहनादि सेवाका सुख कितना अधिक होता है—यह बतलाते हैं। इसके द्वारा—सङ्गम-सुख न चाहकर सेवा सुख क्यों अभीष्ट है—इसका भी समाधान करते हैं।

सुखपूर—सुखकी पूर्ति, सुखका समुद्र, परिपूर्ण सुख।

कान्तसेवा सुखपूर—कान्तकी पाद-सम्वाहनादि सेवा ही सुखके समुद्र तुल्य है; उसीसे परिपूर्ण सुख मिल जाता है। कान्तकी सेवासे जो सुख मिलता है, उससे हृदय भरा रहता है; इसीसे अन्य किसी भी सुखकी वासना हृदयमें स्थान नहीं पाती।

सङ्गम हैते सुमधुर—कान्तके साथ सङ्गमसे जो सुख मिलता है, उससे कान्तकी सेवाका सुख कहीं अधिक मधुर और आस्वाद्य होता है। कान्त-सङ्गमके सुखसे कान्त-सेवाका सुख परिमाणमें भी अत्यधिक (सुखपूर) एवं माधुर्यकी दृष्टिसे भी अत्यन्त श्रेष्ठ होता है। इसीसे सेवा-सुख मिलनेपर सङ्गम-सुखके निमित्त किसी भी प्रकारकी लालसा उत्पन्न नहीं होती। जिसको मधुका स्वाद प्राप्त हो, वह गुड़के लिये कभी लालायित नहीं होता।

ताते साक्षी लक्ष्मीठाकुराणी—सङ्गम-सुखसे सेवा-सुख बहुत अधिक और अनेक गुणा मधुरतर होता है, इसका प्रमाण श्रीलक्ष्मीजी हैं। लक्ष्मी किस प्रकार इसका प्रमाण हैं—यह **'नारायेणरहृदे स्थिति'** इत्यादि वाक्यों द्वारा बतला रहे हैं।

नारायणेर हृदे स्थिति—श्रीनारायणके हृदयमें श्रीलक्ष्मीजीकी स्थिति है। श्रीनारायण श्रीलक्ष्मीजीको इतना अधिक प्यार करते हैं कि वे सर्वदा उनको वक्ष:स्थलपर धारण किये रहते हैं।

तभु पाद-सेवाय मति—सर्वदा श्रीनारायणकी वक्षोविलासिनी रहकर भी उनको तृप्ति नहीं होती। श्रीनारायणकी पाद-सेवा करते रहनेकी ही उनकी इच्छा रहती है।

सेवा करे—वक्ष:स्थलकी अवस्थिति त्यागकरके भी, श्रीलक्ष्मी देवी श्रीनारायणकी सेवा (पाद-सेवादि) करती हैं।

दासी-अभिमानी—श्रीनारायणकी वक्षोविलासिनी प्रेयसी होकर भी, उनकी प्राणेश्वरी होकर भी, श्रीलक्ष्मी देवी अपनेको श्रीनारायणकी दासी मानकर सेवादि करती रहती हैं। इससे समझा जाता है कि 'प्रेयसी' अभिमानकी अपेक्षा 'दासी' अभिमान ही अधिक लोभनीय है; कान्तके वक्ष:स्थलपर रहकर, विहारादि करनेकी अपेक्षा, कान्तकी पाद-सम्वाहनादि सेवाका आकर्षण ही अनेक गुणा अधिक है। स्वयं श्रीलक्ष्मीजी भी श्रीनारायणके वक्ष:स्थलको छोड़कर उनके पाद-सम्वाहनादिके लिये लुब्ध रहती हैं।

सङ्गम-सुखकी अपेक्षा भी सेवा-सुखके बाहुल्य द्वारा सेवा-परायणा-मञ्जरी-गण का असमोर्द्ध आनन्द ही सूचित होता है। श्रीकृष्णके साथ सङ्गम-सुखकी इच्छा वे नहीं करतीं, जिस स्थानपर श्रीकृष्णकृत-सङ्गम-चेष्टाकी सम्भावना है, वहाँ वे जाना भी नहीं चाहतीं; केवल मात्र सेवाके कार्यमें ही वे व्यस्त रहती हैं; इसीसे उनका आनन्द भी असमोर्द्ध होता है।

आत्मसुखगन्धहीन व्रजका विशुद्ध प्रेम

एइ राधार वचन, विशुद्ध प्रेम-लक्षण,
आस्वादये श्रीगौरराय।
भावे मन अस्थिर, सात्विके व्यापे शरीर,
मन-देह धरण ना जाय॥

एइ राधा वचन—*'आमि कृष्ण-पद दासी'* से लेकर 'सेवा करे दासी अभिमानी' तक श्रीराधाके वचन।

विशुद्ध प्रेम—स्व-सुखवासनागन्धशून्य कृष्ण-सुखैक-तात्पर्यमय प्रेम।

विशुद्ध प्रेम-लक्षण—यह 'राधाके वचनोंका' विशेषण है। विशुद्ध प्रेमके लक्षण हैं जिनमें, ऐसे श्रीराधाके वचन। *'आमि कृष्णपद-दासी'* से लेकर *'सेवा करे दासी अभिमानी'* तक विशुद्ध प्रेमके लक्षण व्यक्त हुए हैं। अपने सुख-दुःखका, मान-अभिमानका, किसी भी प्रकारका अनुसन्धान न रखकर, एक मात्र श्रीकृष्ण सुखके निमित्त, 'श्रीकृष्णकी दासी' अभिमानसे उनकी सेवा करना—यही विशुद्ध-प्रेमका लक्षण है।

आस्वादये इत्यादि—श्रीश्रीगौरसुन्दर विशुद्ध प्रेमके लक्षण-युक्त श्रीराधावचनावलीका आस्वादन करते हैं।

भावे—श्रीराधाके भावमें

भावे मन अस्थिर—श्रीराधाकी उक्तिका आस्वादन करनेके समय, अनेक प्रकारके सञ्चारी भावोंके उदय होनेसे राधा-भावाविष्ट प्रभुका मन अस्थिर हो उठा। **सात्विके**—अश्रु, कम्प, स्तम्भादि अष्ट सात्विक भावोंके उदय होनेसे। **व्यापे शरीर**—शरीरमें व्याप्त होते हैं। आस्वादन-कालमें अष्ट सात्विक भाव प्रभुके शरीरमें प्रकट हुए। **मन-देह-धरण न जाय**—मन और देहको स्थिर नहीं रख पा रहे हैं। अनेक प्रकारके भावोंके उदय होनेसे प्रभुका मन अस्थिर है, और कम्पादि सात्विक भावोंके उदय होनेसे प्रभुका देह अस्थिर है।

व्रजेर विशुद्ध प्रेम, जेन जाम्बुनद हेम,
आत्म सुखेर जाहे नाहि गन्ध।
से प्रेम जानाइते लोके, प्रभु कैल एइ श्लोके,
पदे कैल अर्थेर निबन्ध॥

जाम्बुनद—सम्यक् रूपसे पवित्र, जिसमें अपवित्रताकी गन्धमात्र भी नहीं है। **हेम**—स्वर्ण, सोना। **जाम्बुनद हेम**—अति विशुद्ध स्वर्ण, जिसमें खादकी गन्धमात्र भी न हो, इस प्रकारका विशुद्ध स्वर्ण।

आत्म सुखेर—अपने सुखकी। **गन्ध**—लेशमात्र भी।

व्रजेर विशुद्ध-प्रेम इत्यादि—व्रज-प्रेम अति विशुद्ध स्वर्णके समान पवित्र है। इसमें स्वसुख-वासनारूप मलिनता नहीं है। विशुद्ध स्वर्णमें जिस प्रकार स्वर्णके अतिरिक्त और कोई पदार्थ लेशमात्र भी नहीं होता, उसी प्रकार विशुद्ध व्रजप्रेममें भी कृष्णकी सुख-वासनाको छोड़कर और कोई भी वासना नहीं होती, इसमें स्वसुखकी वासनाकी गन्धमात्र भी नहीं होती। **से प्रेम**—ऐसा विशुद्ध व्रजप्रेम। **एइ श्लोके**—आश्लिष्य वा पादरता... श्लोक। **से प्रेम जानाइते** इत्यादि—काम-गन्धहीन विशुद्ध व्रजप्रेमका मर्म जगतमें प्रचार करनेके निमित्त प्रभुने 'आश्लिष्य वा पादरतां—' श्लोककी रचना की। **पदे**—'आमि कृष्ण पद-दासी— इत्यादि पदमें।' **अर्थेर निबन्ध**—श्लोकार्थकी वृत्ति, अर्थकी निवृत्ति।

पदे कैल इत्यादि—केवल श्लोककी रचना करके ही परम करुण प्रभु शान्त नहीं हो गये। संस्कृत भाषामें रचित श्लोक, विशेष करके बहुत संक्षिप्त हैं, हो सकता है सब लोग इसका मर्म न समझ सकें। इसीसे उन्होंने कृपा करके *'आमि कृष्णपद-दासी'* इत्यादि पद-समूहमें उक्त श्लोकका विस्तृत अर्थ प्रकाश किया।

'पदे' की जगह **'पाद'** एवं **'पद'** पाठान्तर भी मिलता है। **अर्थ**—अर्थके निबन्ध रूपमें *'आमि कृष्णपद-दासी'* इत्यादि पद बना गये।

'निबन्ध' की जगह "**निर्व्वन्ध**" पाठ भी है। —**निर्व्वन्ध**"—पुनः पुनः यत्न। बार-बार यत्न करके—नाना प्रकारके उदाहरणादि द्वारा वक्तव्य विषयको सम्यक् रूपसे परिस्फुट करनेकी चेष्टा करके, श्लोकका अर्थ प्रकाश करनेके निमित्त प्रभुने *"आमि कृष्णपद-दासी"* इत्यादि पदका प्रणयन किया।

गीताप्रेस, गोरखपुरसे प्रकाशित होने वाले धार्मिक मासिकपत्र "कल्याण" के सम्पादक श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दारके चार पद जिनकी रचना शिक्षाष्टकके इस अन्तिम श्लोकके आधार पर का गयी है, भावुक-भक्तोंके रसास्वादनके निमित्त नीचे उद्धृत किये जा रहे हैं :—

(१)

(राग कल्याण-तीन ताल)

मेरे इक जीवनधन घनस्याम।
चोखे-बुरे, दयालु-निरदई, वे मम प्रानाराम॥
चाहे वे अति प्रीति करैं नित राखैं हिय लिपटाय।
रास-बिलास करै नित मो सँग, अन्य सबै छिटकाय॥
मेरे सुख तें सुखी रहैं नित, पलक-पलक सुख देंहि।
मो कारन सब अन्य सखिन महँ दारुन अपजस लेंहि॥
आठौ जाम रहैं मेरे ढिग, नित नूतन रस चाखैं।
नित नूतन रस मोहि चखावैं, माधुरी बानी भाखैं॥
अथवा वे अति बनैं निरदई, मेरे दुख सुख मानैं।
मोय दिखाइ-दिखाइ अन्य जुबतिन कौं नित सनमानैं॥

जो वे प्राननाथ सुख पावैं मेरे दुख ते सजनी।
तौ मैं अति सुख मानि चहौं, वह बनौ रहै दिन-रजनी ॥
प्राननाथ कौ जिय चाहै, सो जदि करै गुमान।
मेरे हेतु करै नहिं कुटिला प्रियतम कौ सनमान ॥
तौ मैं जाइ, चरन परि ताके, करि मनुहार मनावौं।
दासी बनी रहूँ जीवन भर, कबौं न मान जनावौं ॥
जा बिधि तिन्हैं होय सुख, ताही बिधि मैं अति सुख पाऊँ।
प्राननाथ कौं सुखी देखि पल-पल मैं मन हरषाऊँ ॥
जो तिय निज इंद्रिय सुख चाहै, इहि कारन प्रिय सेवै।
गाज गिरै ताके सिर, जो इहि बिधि पिय तैं सुख लेवै ॥
मैं तौ तिन कें सुख सुख पाऊँ, वे मम जीवन-प्रान।
केहि विधि होयँ सुखी वे प्यारे, एक यही मम ध्यान ॥

(२)

(राग रागेश्वरी—ताल दादरा)

हौं तो दासी नित्य तिहारी।
प्राननाथ, जीवन धन मेरे, हौं तुम पै बलिहारी ॥
चाहें तुम अति प्रेम करौ, तन-मन सौं मोहि अपनाऔ।
चाहें द्रोह करौ, त्रासौ, दुख देइ मोहि छिटकाऔ ॥
तुम्हरो सुख ही है मेरौ सुख, आन न कछु सुख जानौं।
जो तुम सुखी होउ मो दुख में, अनुपम सुख हौं मानौं ॥

सुख भोगौं तुम्हरे सुख कारन, और न कछु मन मेरे।
तुमहिं सुखी नित देखन चाहौं निस-दिन, साँझ-सबेरे ॥
तुमहिं सुखी देखन हित हौं निज तन-मन कौं सुख देऊँ।
तुमहिं समरपन करि अपने कौं, नित तव रुचि कौं सेऊँ ॥
तुम मोहि 'प्रानेस्वरि', 'हृदयेस्वरि', 'कांता' कहि सचु पावौ।
यातें हौं स्वीकार करौं सब, जद्यपि मन सकुचावौं ॥

(३)

(राग भैरवी—ताल कहरवा)

मिलती अगर सान्त्वना तुमको मेरे दुःखसे, हे प्रियतम !
तो लाखों अतिशय दुःखों से घिरी रहूँगी मैं हर दम ॥
किंचित्-सा भी यदि सुख देता हो तुमको मेरा अपमान।
तो लाखों अपमानोंको मैं मानूँगी प्रभुका वरदान ॥
यदि प्यारे ! मेरे वियोगमें मिलता तुम्हें कहीं आराम।
कभी नहीं मिलनेका मैं व्रत लूँगी, मेरे प्राणाराम ॥
मेरी आर्ति-विपत्ति, कदाचित् तुम्हें सुहाती हो यदि श्याम !
तो रक्खूँगी इन्हें पास मैं सपरिवार नित, दे आराम ॥
मेरा मरण तुम्हें यदि देता हो किंचित्-सा भी आश्वास।
तो मैं मरण वरण कर लूँगी, निकल जायगा तनसे श्वास ॥
सुखी रहो तुम सदा—एक बस, यही नित्य मेरे मन चाह।
हर स्थितिमें मैं सुखी रहूँगी, नहीं करूँगी कुछ परवाह ॥

(४)

(तर्ज लावनी—ताल कहरवा)

दूर करो, ठुकराओ चाहे, प्यारे ! घरसे निकलवाओ ।
खूब सताओ, पर मुझको मनसे न कभी तुम बिसराओ ॥

सदा चाहती मिले रहो तुम, पर जो तुम्हें यह चाह नहीं ।
कभी मिलो मत, दूर रहो, मुझको इसकी परवाह नहीं ॥
सुख से सदा रहो तुम, प्यारे ! इसके सिवा कुछ चाह नहीं ।
दुःख देते जाओ चुपके-से, रखने भी दो गवाह नहीं ॥
चाहे जैसे रखो मुझे, पर मनसे कभी न भूल जाओ ।
खूब सताओ, पर मुझको मनसे न कभी तुम बिसराओ ॥

नहीं चाहती सुखमें हिस्सा, नहीं चाहती धनमें भाग ।
नहीं चाहती राय सुनो तुम, नहीं चाहती मैं अनुराग ॥
नहीं चाहती आदर दो तुम, नहीं चाहती प्रेमपराग ।
यही चाहती भूलो मत, तुम सुखसे रहो, बस, यही सुहाग ॥
अपनी चीजको चाहे जैसे बरतो, कभी मत सकुचाओ ।
खूब सताओ, पर मुझको मनसे न कभी तुम बिसराओ ॥

यही सुहाग बड़ा भारी है, जो तुम नहीं भुलाते हो ।
सता-सताकर निर्दयतासे मुझको सदा रुलाते हो ।।
दुःखोंके संदेश भेजकर बरबस पास बुलाते हो ।
ठुकराते, गिर पड़ती, तब तुम भुजभर स्वयं उठाते हो ।।
इसी तरह मेरी सुख-साधोंको पूरी करते जाओ ।
खूब सताओ, पर मुझको मनसे न कभी तुम बिसराओ ।।

रुची तुम्हारी मेरी रुचि हो, चाह तुम्हारी मेरी चाह ।
हो चाहे प्रतिकूल सर्वथा, इसकी मुझे न कुछ परवाह ।।
चाहे दम घुट जाये, मुखसे कभी नहीं निकलेगी आह ।
तुम हो प्राण प्राण हो मेरे, तुम ही सब चाहों की चाह ।।
मेरा भाव नहीं बदलेगा, भले बदलते तुम जाओ ।
खूब सताओ, पर मुझको मनसे न कभी तुम बिसराओ ।।

●

गोपीप्रेमकी कामगन्धहीनता

(श्रीराधागोविन्द नाथ)

'काम' एवं 'प्रेम'—इन दोनों शब्दोंका अर्थ है इच्छा—सुखकी इच्छा। तो भी इन दोनों शब्दोंके तात्पर्यमें पृथकता है। इच्छाकी गतिके पार्थक्यके अनुसार ही तात्पर्यमें पृथकता होती है। जिस सुखवासनाकी गति अपनी ओर होती है, उसको कहा जाता है काम, और जिस सुखवासनाकी गति दूसरेकी ओर—प्रीतिके विषयकी ओर होती है, उसको कहा जाता है प्रेम। अपने सुखके लिये या अपनी दुःख-निवृत्तिके लिये जो वासना है, उसका नाम है काम, प्रीतिके जो विषय हैं उनके सुखके लिये, उनकी दुःख-निवृत्तिके लिये जो वासना होती है, उसका नाम है प्रेम।

"आत्मेन्द्रिय-प्रीति-इच्छा—तारे बलि 'काम'।
कृष्णेन्द्रिय-प्रीति-इच्छा—धरे 'प्रेम' नाम ॥"

(चै० च० आ० ४।१४१)

सुखवासनाकी गतिके पार्थक्यका हेतु है। मायाबद्ध जीवकी सारी वासनाओंके मूलमें माया है। हमारी देहमें आवेश उत्पन्न करके माया हमारे चित्तमें, देहके एवं देहकी इन्द्रियोंके सुखके लिये वासना उत्पन्न करती है, यही है 'काम'। यह काम हुआ मायाजनित वासना, यही कामका स्वरूप है। और प्रेम रहता है भगवान्‌के बीच एवं उनके परिकर भक्तोंके बीच और अन्य मायामुक्त भक्तोंके बीच। माया इनको स्पर्श भी नहीं कर सकती। भगवान्‌की अथवा भक्तकी सारी वासना स्वरूप शक्तिकी वृत्ति होती है, स्वरूप-शक्तिकी वृत्तिसे उत्पन्न वासनाकी गति प्रीतिके विषयकी ओर ही रहती है। भक्तमें जो प्रीति या सुखकी वासना होती है, उसका लक्ष्य होते हैं भगवान्-श्रीकृष्ण। और श्रीकृष्णमें जो प्रीति या सुखवासना होती है, उसका लक्ष्य होते हैं उनके भक्त। भगवान् भी अपना सुख नहीं

चाहते और उनके भक्त भी अपना सुख नहीं चाहते । भक्त चाहते हैं भगवान्का सुख एवं भगवान् चाहते हैं भक्तका सुख । इस जातिकी प्रीतिमें प्रीतिके विषयके सुखके निमित्त जो वासना होती है, उसको ही प्रेम कहते हैं । यह प्रेम स्वरूपशक्तिकी वृत्ति होनेके कारण एवं काम मायाशक्तिकी वृत्ति होनेके कारण, काम और प्रेममें स्वरूपगत विलक्षणता है । प्रेम यदि सूर्यके समान है तो काम अन्धकारके समान—एकदम विपरीत । प्रेम विशुद्ध स्वर्ण है तो काम लोह सदृश है ।

काम-प्रेम दोंहाकार विभिन्न लक्षण । लौह आर हेम जैछे स्वरूपे विलक्षण ।।
अतएव काम प्रेमे बहुत अन्तर । काम अन्धतम, प्रेम निर्म्मल भास्कर ।।

(चै० च० आ० ४।१४०, १४७)

श्रीकृष्णके प्रति गोपियोंकी प्रीति और गोपियोंके प्रति श्रीकृष्णकी प्रीति भी इसी प्रकारका विशुद्ध प्रेम—स्वरूपशक्तिका वृत्तिभूत प्रेम है । इसके साथ मायाका कोई भी स्पर्श या स्पर्शाभास भी नहीं है । इसलिये इस प्रेमके साथ किसीमें भी स्वसुख-वासनाकी छाया भी नहीं है, यह परस्परकी प्रीति केवल विशुद्ध—निर्मल है । गोपियाँ श्रीकृष्णसे मिलती हैं केवलमात्र श्रीकृष्णसुखैक-तात्पर्यमयी सेवा द्वारा श्रीकृष्णको सुखी करनेके लिये । इस सेवाके मूलमें स्वसुखवासनाकी गन्धमात्र भी उनमें नहीं है । इसी प्रकार श्रीकृष्ण भी गोपियोंसे मिलते हैं केवल मात्र उनके सुख-विधानके निमित्त । इस मिलनमें भी श्रीकृष्णमें स्वसुखवासनाकी गन्धमात्र भी नहीं है । यह विशुद्ध प्रेमका स्वरूपगत-धर्म है, स्वरूप-शक्तिका स्वाभाविक धर्म है । मायावद्ध जीवको स्वरूपशक्तिका एवं स्वरूपशक्तिको धर्मका परिचय नहीं है, इसलिए विशुद्ध प्रेमके स्वभाविक धर्मकी धारणा करना हमारे लिये सहज नहीं है । हमारा परिचय मायाके साथ है, इसीसे हम कई बार मान लेते हैं कि व्रजसुन्दरियोंके साथ श्रीकृष्णका मिलन भी प्राकृत नायक-नायिकाके समान ही है । किन्तु वैष्णवाचार्य गोस्वामीगण बार-बार हमको सावधान करके बता गये हैं कि व्रजगोपियोंके साथ श्रीकृष्णके मिलनेमें पशुवत् भाव किञ्चित मात्र भी नहीं है । उज्ज्वलनीलमणिके मुख्यसम्भोग—प्रकरणके मूल श्लोकको टीकामें एवं अन्यत्र भी अनेक स्थानों पर श्रीजीव गोस्वामि बता

गये हैं—"**काममयः सम्भोगः व्यावृत्तः ।**" एवं श्रीपाद विश्वनाथ चक्रवर्तीने भी कहा है—"**पशुवच्छृङ्गारः व्यावृत्तः ।**"

व्रजसुन्दरियोंके साथ श्रीकृष्णकी रति-क्रीड़ाकी बात, उनके साथ परस्परमें आलिङ्गन चुम्बन आदिकी बातें शास्त्र आदिमें मिलती हैं। किन्तु इनमें भी जुगुप्सित (निन्दनीय) कुछ नहीं है। 'रति' शब्दका अर्थ होता है अनुरक्ति, अनुराग या प्रेम। श्रीकृष्ण एवं व्रजसुन्दिरियोंमें एक दूसरेके प्रति परस्परका गाढ़ अनुराग या प्रेम जिन क्रीड़ा या क्रियाओं द्वारा विकसित होता है, वे सभी रतिक्रीड़ा या प्रेमके खेल हैं। प्रेममें जब कामगन्ध नहीं है, तब इन सारे प्रेमके खेलोंमें भी कामगन्ध नहीं रह सकती। आलिङ्गन-चुम्बन आदि सभी प्रेमके खेलोंके अङ्ग मात्र हैं—अङ्गी नहीं, अर्थात् आलिङ्गन-चुम्बन आदि ही इन सब प्रेमके खेलोंके लक्ष्य नहीं हैं, आलिङ्गन-चुम्बन आदि तो उनमें परस्परके प्रति प्रेम प्रकाशन के द्वार (साधन) मात्र हैं। प्राकृत जगतमें भी शिशु, पुत्र-पुत्री, पौत्र-पौत्री या दोहित्र-दोहित्री आदिके आलिङ्गन-चुम्बनादिके द्वारा प्रीति प्रकाशनकी रीति देखी जाती है।

प्राकृत नायक-नायिकाके बीच भी परस्परमें आलिङ्गन-चुम्बन आदि देखनेमें आते हैं। किंतु काममय मायिक जगतमें इन सबका लक्ष्य होता है काममय सम्भोग। मायातीत व्रजधामकी प्रेममयी लीलामें काममय-सम्भोगका स्थान नहीं है—यह पहिले ही बता दिया गया है।

किंतु व्रजलीलामें काममय सम्भोग न रहनेपर भी आलिङ्गन-चुम्बन आदि रूप प्राकृत काम-कीड़ाके कितने ही वाह्य लक्षण उसमें विद्यमान हैं। इसीसे कविराज गोस्वामी कह गए हैं :—

"सहजे गोपीर प्रेम नहे प्राकृत काम।
काम क्रीड़ा साम्ये तार कहि काम नाम॥"

वाह्य लक्षणोंमें कामक्रीड़ाके साथ कुछ समानता होनेके कारण गोपियोंका प्रेम कभी-कभी काम-नामसे कहे जानेपर भी वास्तवमें वह काम

नहीं है। यह समझा जाता है परम भागवतोंके अनुभव द्वारा। इसीसे शास्त्र भी कहते हैं :—

"प्रेमैव गोपरामाणां काम इत्यागमत् प्रथाम्।
इत्युद्धवादयोऽप्येतं वाञ्छन्ति भगवत्-प्रियाः ।।"

(कामक्रीड़ाके साथ वाह्यलक्षणोंमें समानता होनेके कारण) गोपरामा आदिके प्रेमको ही काम-नामसे कहनेकी प्रथा प्रचलित है, (किंतु यह स्वरूपतः काम नहीं है,) इसलिए उद्धव आदि भगवद्भक्त भी इस प्रेम-प्राप्तिके लिये प्रार्थना करते रहते हैं।

उद्धव हैं श्रीकृष्णके द्वारकाके लीला सखा, ऐश्वर्यभावके एकान्त भक्त, वृहस्पतिके शिष्य, महाविज्ञ, यदुराजके मंत्री। व्रजवासियोंको अपना समाचार सुनाकर, उनको सान्त्वना देनेके लिये श्रीकृष्णने उद्धवको मथुरासे व्रजमें भेजा था। श्रीकृष्णके प्रति व्रजदेवियोंके प्रेमकी चरम पराकाष्ठा देखकर उद्धव मुग्ध हो गये थे और कुछ समय तक व्रजमें रहकर उनके प्रेमकी अपूर्वताका आस्वादन करनेके लोभको संवरण नहीं कर सके थे। गोपी भावमें लुब्ध होकर मथुरा लौटनेके समय—

आसामहो चरणरेणुजुषामहं स्यां
वृन्दावने किमपि गुल्मलतौषधीनाम्।
या दुस्त्यजं स्वजनमार्यपथं च हित्वा
भेजुर्मुकुन्दपदवीं श्रुतिभिर्विमृग्याम् ।।

(श्रीम० भा० १०।४७।६१)

इत्यादि प्रार्थनाकी थी कि वे वृन्दावनमें लता-गुल्म होकर जन्म ले सकें जिससे कि व्रजगोपियोंकी चरणरेणु प्राप्त करनेका सौभाग्य उनको मिल सके।" उन्होंने और भी कहा :—

वन्दे नन्दव्रजस्त्रीणां पादरेणुमभीक्षणशः।
यासां हरिकथोद्गीतं पुनाति भुवनत्रयम् ।।

(श्रीम० भा० १०।४७।६३)

"मैं इन व्रजबालाओंकी चरण-रेणुकी वन्दना करता हूँ, जिनके द्वारा गायी गयी हरिकथा त्रिभुवनको पवित्र करती है।" यदि व्रजगोपियोंकी कृष्ण-प्रीतिमें भी कामगन्ध होती तो उद्धव सरीखे महाविज्ञ भक्त उनके प्रेमकी इतनी प्रशंसा नहीं करते, उनकी चरण-रेणु प्राप्तिके लिये इतनो व्याकुलता भी व्यक्त नहीं करते।

केवल वाह्य लक्षण द्वारा वस्तुकी पहचान नहीं होती। वाह्य लक्षणसे नमक और मिश्री एकसे दीखते हैं, तो भी एक वस्तु नहीं हैं। इसी प्रकार काम और प्रेममें वाह्य लक्षणोंमें समता रहनेपर भी वे दोनों एक वस्तु नहीं हैं। जैसे नमक और मिश्रीकी पहचान उनके स्वाद द्वारा होती है, उसी प्रकार प्रेमको भी पहचाना जाता है उसके प्रभावके द्वारा। गोपी-प्रेमका एक प्रभाव उद्धवने अनुभव किया और करके उनने घोषणा की—वह काम नहीं है। और एक प्रभावकी बात कह गये हैं श्रीशुकदेवजी गोस्वामी। रासलीला वर्णनके अन्तमें उनने कहा है :—

"विक्रीडितं व्रजवधूभिरिदं च विष्णोः
श्रद्धान्वितोऽनुश्रृणुयादथ वर्णयेद् यः।
भक्तिं परां भगवति प्रतिलभ्य कामं
हृद्रोगमाश्वपहिनोत्यचिरेण धीरः॥"

(श्रीम० भा० १०।३३।४०)

"व्रजवधुओंके साथ भगवान् विष्णुके इन सारे केलि बिलासकी कथा श्रद्धान्वित होकर जो सर्वदा श्रवण या कीर्त्तन करेगा, उसको शीघ्र ही परा-भक्ति प्राप्त होगी एवं उसका हृद्‌रोग काम शीघ्र नष्ट होगा।" कामक्रीड़ाकी कथा श्रवण और कीर्तन करनेसे किसीका भी काम शमन नहीं हो सकता। इसीसे श्रीशुकदेवजीकी उक्तिसे भी जाना जाता है कि व्रजदेवियोंके साथ श्रीकृष्णकी क्रीड़ा प्राकृत काम-क्रीड़ा नहीं है।

व्रजगोपियोंके साथ श्रीकृष्णकी लीलाकथाके श्रोता एवं वक्ता कौन हैं—इसकी विवेचना करनेसे भी उक्त लीलाकथाके स्वरूप-सम्बन्धमें कुछ धारणाकी जा सकती है, श्रोता होते हैं महाराज परीक्षित, ब्रह्मशापसे सात

दिनोंके भीतर तक्षकके दंशनसे अपनी मृत्यु निर्धारित समझकर जो गङ्गा तीर पर प्रायोपवेशनरत होकर पारलौकिक मंगलके उद्देश्यसे भगवत् कथा श्रवणमें लगे हैं। और वक्ता हैं व्यासदेवकी तपस्यालब्ध संतान, आजन्म विरक्त देवर्षि-महर्षि-राजर्षियों द्वारा सेवित श्रीशुकदेव गोस्वामी। व्रजलीला यदि कामक्रीड़ा ही होती तो पारलौकिक मङ्गलाङ्क्षी परीक्षित कदापि यह कथा नहीं सुनते एवं विरक्त शिरोमणि श्रीशुकदेवजी उसका वर्णन नहीं करते।

और जो 'स्त्री' शब्द तक भी मुँहसे उच्चारण नहीं करते थे एवं कभी सुनना भी नहीं चाहते थे, जो सर्वदा उपदेश देते—

"ग्राम्य कथा ना वलिवे, ग्राम्य वार्त्ता ना शुनिबे।"

वे न्यासि-शिरोमणि श्रीमन्महाप्रभु श्रीकृष्णचैतन्य निरवच्छिन्न भावसे व्रजबधुओंके साथ श्रीकृष्णकी लीलाका रस-आस्वादन किया करते। यह लीला यदि काम-क्रीड़ा ही होती, तो महाप्रभुजी कभी भी इसका इस प्रकार आस्वादन नहीं करते।

इन सारी बातोंसे स्पष्ट है—गोपी प्रेम कामगन्धहीन, विशुद्ध, निर्मल, त्रिभुवन पावन है।

[लेखकके श्रीचैतन्यचरितामृतकी भूमिका ग्रन्थ के पृष्ठ ४२१-२३ से अनूदित]

गोपियोंका विशुद्ध प्रेम

(श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दार, सम्पादक—'कल्याण', गीताप्रेस, गोरखपुर)

'आमि कृष्णपद दासी' पद में भगवान् श्रीकृष्णके लिये श्रीराधा तथा गोपाङ्गनाओंके साथ 'क्रीड़ा' करनेकी बात कही गई है, 'सङ्गम' शब्द आया है, 'देहदान' करना कहा गया है; शब्दोंका प्रचलित अर्थ देखनेपर यह 'काम' राज्य की चर्चा-सी प्रतीत होती है। परन्तु वस्तुतः मिलन-विलासादिरूप रसका आस्वादन होनेपर भी यह लौकिक स्त्री-पुरुषोंका 'काम' मिलन नहीं था। भगवान् नित्य ही आत्म-रमण या आत्म-क्रीड हैं, और इस लीलाको उनका आत्मरमण भी बतलाया गया है। पर यह वह 'आत्मरमण' भी नहीं था। यह थी नित्य सच्चिदानन्द-स्वरूप, परात्पर तत्व, पूर्णतम स्वतन्त्र, प्रकृतिके अधीश्वर, सर्वलोक महेश्वर लीलाबिहारी भगवान् नन्द-नन्दन और उन्हींकी स्वरूपभूता ह्लादिनी शक्ति श्रीराधाजी एवं उन्हींकी कायव्यूहरूपा, उन्हींकी अनन्त विचित्र घनीभूत मूर्ति श्रीगोपाङ्गनाओं की दिव्य अप्राकृत क्रीड़ा, दिव्य देववाञ्छित 'रस-सङ्गम'।

जैसे बिल्कुल मीठी मिश्रीकी अत्यन्त कडुए तूंबे (इन्द्रायण) जैसे रूप-रंगकी आकृति बनाली जाय, जिसे बाहरसे देखनेपर मिश्रीकी स्मृति तक न हो और ठीक तूंबा ही प्रतीत हो, परन्तु इस वाह्य प्रतीतिसे वह मिश्री जैसे मीठी मिश्रीसे बदलकर कटु इन्द्रायण नहीं हो जाती, सदा सब ओरसे बाहर-भीतर सदा मिश्री ही रहती है—इसी प्रकार स्वयं भगवान् तथा स्वयं भगवत्स्वरूपा भगवती श्रीराधा आदिकी अप्राकृत प्रपञ्चातीत क्रीड़ा भी लौकिक काम मूलक शब्दोंसे कथित तथा लौकिक-सी प्रतीत होने पर भी वह नित्य दिव्य ही रहती है। यह दिव्य रसमय रसिकशेखर अखिलरसामृतसिन्धु सच्चिदानन्दघन विग्रह भगवान्‌का स्वयं ही अपने रस स्वरूपभूत समुद्रमें डुबकियां लगाकर रसास्वादन करना है।

उपर्युक्त वर्णन तो वस्तुतः विशुद्ध त्यागमय प्रेमकी एक ऊँची व्याख्या है। लौकिक उदाहरणके रूपमें राधाजी कहती हैं कि श्रीकृष्ण चाहे मुझमें अनुराग करें या मुझे दुःख दें, दूसरी नारियोंको छोड़कर अपना तन-मन मुझे सौंपकर मेरे साथ क्रीड़ा करके मेरा सौभाग्य प्रकट करें या वे लम्पट, शठ, धृष्ट, सकपटकी तरह अन्य नारियोंके साथ रहें तथा मुझे पीड़ा देनेके लिये मेरे सामने ही उनसे क्रीड़ा करें—कुछ भी करें वे सदा ही मेरे एकमात्र प्राणनाथ हैं। मुझे उनके किसी व्यवहारसे कोई मतलब नहीं, मुझे तो उनके सुखसे मतलब है। बस, वे सुखी रहें। इसीमें मुझे परम सुख है। वे यदि किसी अन्य नारीको चाहते हों, और वह मुझसे द्वेष करती हो, तो मैं उसके घर जाकर उसकी दासी होकर रहनेको तैयार हूँ, इसमें मुझे बड़ा उल्लास होगा, क्योंकि उससे मेरे प्राणनाथ सुखी होंगे। इस प्रकारके राधाके उद्गार उनके त्यागमूलक विशुद्ध प्रेमका परिचय देते हैं, किसी गन्दे लौकिक कामका नहीं। जिसमें आत्म-सुखकी कल्पना-गन्ध ही नहीं होती, वहाँ वासनामूलक काम नहीं होता।
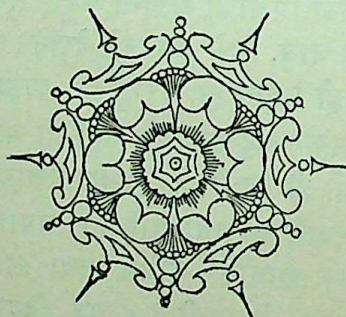
श्रीश्रीचैतन्य-शिक्षाष्टककी 'रसिकरङ्गदा' संस्कृत टीका

पूज्यपाद श्रीरूपगोस्वामीद्वारा संगृहीत 'पद्यावली' ग्रन्थ, जिसकी 'रसिकरङ्गदा' नामक संस्कृत टीका—वर्द्धमान-प्रदेशान्तर्गत माड़ग्रामस्थ श्रीनित्यानन्दवंशावतंस श्रीवीरचन्द्रगोस्वामीद्वारा लिखी गयी है, श्रीरामनारायण विद्यारत्न द्वारा मूलश्लोकोंके बंगभाषाके अनुवाद सहित बरहमपुरके हरिभक्ति-प्रदायिनी सभास्थ राधारमण-यन्त्रद्वारा मुद्रित होकर मुर्शिदाबादसे आषाढ़ १२९१ बंगाब्दमें बंगाक्षरोंमें प्रकाशित हुआ था। उसमेंसे यह टीका व्रजभूमिके कुसुम-सरोवरवाले श्रीकृष्णदासजी बाबाजीकी कृपासे प्राप्त करके भक्तवृन्दोंके आस्वादनार्थ नीचे दी जा रही है।

श्लोक-संख्या १

अथ जातरुचीनां श्रीकृष्णनामोच्चारणस्य सर्वसुखदातृतया माहात्म्यं लिखति कलियुगपावनावतारः श्रीभगवद्गौरचन्द्रः कृत-पद्येन चेत इति। परमुत्कृष्टं यथा स्यात्तथा श्रीकृष्णस्य तन्नाम्नः संकीर्त्तनं सम्यगुच्चारणं विजयते विशिष्टतया सर्वोत्कर्षेण वर्त्तते। यदा श्रिया राधाख्य-स्वरूपशक्त्या युक्तस्य कृष्णस्य अतएव परमिति। तत् कथम्भूतं चेत इत्यादि। चेत एव दर्पणं भगवन्मूर्ति-प्रतिबिम्बदर्शकत्वात्तदविद्यासंसर्गेण मलिनमासीत्तन्मार्जयति शोधयतीति तदेतेन पूतजलोपमम्। भवः संसार एव महादावाग्नि-स्तस्य निर्वापणं नाशनम्। निर्वापणं नाशने स्यादिति

शब्दरत्नाकरः। एतेन मेघोपमम् । श्रेयः शुभमेव कैरवं कुमुदं तस्य चन्द्रिका ज्योत्स्ना तात्पर्य्याद्विकाशस्तां वितरतीति श्रेयःकुमुद-प्रफुल्लकारित्वेन चन्द्रोपमम्। विद्या ब्रह्मविद्या सैव सर्वप्रियाचरण-शीलत्वात् वधूर्वधूरिवास्वतन्त्रा च तस्या जीवनं आजीवकः। नामानुग्रहं विना सैव न स्फुरतीत्यर्थः नामवश्यत्वादेतेन पत्युपमम्। आनन्दाम्बुधिवर्द्धनमिति पुनश्चन्द्रोपमम् । प्रतिपदं 'पदं शब्दे च वाक्ये च व्यवसायोपदेशयोः। पदं तच्चिह्नयोः स्थानं प्राणयो-रङ्गवस्तुनोरिति मेदिनीकोषात् । कृष्णेति नाम्नि ककार-षकार-णकाराः शब्दा अवयवा वा सन्ति प्रतिशब्दं प्रत्यवयवं वा पूर्णामृतास्वादनं—पूर्णं तृप्तममृतास्वादनं यत्र तत्। यदुच्चारणादौ सति अमृतास्वादने अलं बुद्धिः स्यात्, यद्वा पूर्णं परित अमृता-स्वादनं यत्र तत् एतेन सोहिन्युपमम् । सर्वात्म-स्नपनं सर्वान् आत्मनश्चित्त-बुद्धि-देहान् स्नपयति तापशान्तिपूर्वकमार्द्रीकरोतीति तत् 'आत्मा पुमान् स्वभावे च प्रयत्ने धैर्यचित्तयोः। बुद्धौ देहे' इति शब्दरत्नाकरादेतेन साधूपमम् । (पद्यावली, श्लोक २२)

श्लोक-संख्या २

नाम्नामनिर्वचनीयमाहात्म्यं ज्ञापयितुं तत्रानुरागहीनतयै-वात्मानं निन्दन्निव तदनुराग-वृद्धये तत्-कर्त्तारं श्रीभगवन्तं श्रीभगवान् श्रीगौरचन्द्रः अन्यानुपशिक्षयितुं प्रार्थयते तत् तदीय-पद्येन लिखति नाम्नामिति । हे भगवन् ! भवता करुणया नाम्नां बहुधा बहुप्रकारोऽकारि कस्मिन् कस्मिन् कस्य कस्याभिरु-चिर्जायतामित्येतदर्थम्। यद्वा नित्यसिद्धानां नाम्नां करुणासम्भवा-देवं वा व्याख्येयं, भवतो नाम्नां बहुधा प्रकाशोऽभूत् कृञ्धातो-

रर्थान्तरवृत्तित्वेनाकर्मकत्वादतो भावे प्रत्ययः। तत्रापि तस्य तस्याभीष्टसिद्ध्यर्थं निजस्य या सर्वशक्तिरस्ति सा तत्रार्पितेति सर्वार्थशक्तियुक्तस्य देवदेवस्य चक्रिणः 'यच्चाभिरुचितं नाम तत् सर्वार्थेषु योजयेदिति विष्णुधर्मवचनात्। अर्पितेति अनेकजन्म-सिद्धानां गोपीनां पतिरेव वेतिवदर्पितादौ अनादिसिद्धत्वं ज्ञेयम्। अतस्तव कृपैतादृशी निरुपमा। ममापि अपिशब्दाज्जगतश्च दुर्दैवमीदृशं मनो-वचसोरगोचरं यत इह नामसु अनुरागो नाजनि न जातोऽभूत् यतो रसनादयोह्यन्येषां कथन-श्रवण-स्मरण-परा अधुनापि सन्तीति मां धिक् धिगति व्यज्यते। (पद्यावली, श्लोक ३१)

श्लोक-संख्या ३

यतो नामैतादृशमहिम वदतः सदा कीर्त्तनीयमिति प्राप्ते स श्रीभगवान् तस्य मुख्याधिकारिनिर्द्धारणपूर्वकं सदा कीर्त्तने विधिं विदधीतेति तत्कृतपद्येन लिखति तृणादपीति। तृण-जातिः खलु नम्रतास्वभावेन सदा भूमिलग्नास्ति अन्यकर्तृक-पीडनेनापि न कदाचिदात्मशिर उन्नमते तस्मात् सकाशात् सुनीचेनेत्यर्थः तरोरपीति तरुजातिरपि फलपुष्पपत्रत्वङ्मूलादिभिः सर्वेषां हितं करोति तैश्छिद्यमानादिभिरपि यथापराधं सहते तस्मादपि सहनशीलेनेत्यर्थः। अमानिनेति यत्र कुत्रापि गतोऽप्यन्यै-रनादृतोऽपि तेषामादरं कुर्वतेत्यर्थः। एवम्भूतेन हरिः सदा कीर्त्तनीयः न तु साहंकारेणेति तव्यत्प्रत्ययार्थः। (पद्यावली. श्लोक ३२)

श्लोक-संख्या ४

हे जगदीश! धनादिकमहं न कामये वाशब्दश्चार्थः मोक्षादि-कमपि। ननु तदा हे साधो किं कामयसे वद तदेव ददामीत्यत्राह

ममेत्यादि हे जगदीश सर्वाभीष्टदानसमर्थे ईश्वरे त्वयि मम जन्मनि जन्मनि प्रतिजन्म अहैतुकी फलानुसंधानरहिता भक्तिर्भवतात् तोस्ताद्वाऽऽशिषीति तुङस्तादादेशः। (पद्यावली, श्लोक ९५)

श्लोक-संख्या ५

कश्चिद्भक्तो यथाकथंचिद्रूपेण तच्चरणसम्बन्धप्राप्त्यर्थं दैन्येनाचेतनत्वमपि प्रार्थयते तत् कस्यचित् पद्येन लिखति अयीति सानुनयकोमलसम्बोधने हे नन्दतनूज भवाम्बुधौ विषये आश्रये पतितं किंकरं तद्दासं मां कृपया तव पादपङ्कजस्थितधूलीसदृशं विभावयेत्यन्वयः। विषय आश्रयार्थः तथा च विषयो गौडादिर्देशः गोचरे चाश्रये पुमानिति शब्दरत्नाकरः। विषमे इतिपाठे पतितं विषयेष्वासक्तमित्यर्थः। पादपङ्कजे स्थिता या धूली रजः परागस्तस्याः सदृशं नित्यलग्नतया परागतुल्यतां विशेषेण प्रापय भू प्राप्ताविति धातोस्तदेकनिष्ठं कुर्विति फलितार्थः। (पद्यावली, श्लोक ७१)

श्लोक-संख्या ६

अथ श्रीभगवान् शचीनन्दनः सौत्सुक्यप्रार्थनां स्वभक्तान् शिक्षयितुं स्वयमेव पद्यद्वयेन यामाह तां दर्शयति नयनमिति। हे भगवन् तव नामग्रहणेकाले कदा मे नयनं गलदश्रुधारया उपलक्षितं भवति तथा वदनं गद्गदरुद्धया गिरा उपलक्षितं तथा वपुः शरीरं पुलकै रोमाञ्चैर्निचितं व्याप्तं भविष्यतीति वदेति प्रार्थयामि। (पद्यावली, श्लोक ९४)

श्लोक-संख्या ७

हे सखि कृष्णः परश्व आगमिष्यतीति सत्यं कथयसि; किंतु यस्य संयोगे दीर्घकालो निमेषकाल इवासीत् वियोगे तु निमेषकालो

युगवदाचरति तं विना परमाणुकालमपि न स्थास्यामीति पुनर्विरहौत्कंठ्यं भगवतः श्रीशचीनन्दनस्य पद्येनानुवर्णयति युगायितमिति। भावे प्रत्ययः। निमेषेण निमेषकालो युगवद्भवति प्रावृट् वर्षा तदिवाचरितं निरन्तराश्रु-निस्सरणात् चक्षुः प्रावृडिव भवति किमन्यद्वक्तव्यं सर्वं जगत् शून्यायितं मम सम्बन्धेशून्यमिवाभातीत्यर्थः। गोविन्दविरहेणेति पदं सर्वत्र योज्यम्। (पद्यावली, श्लोक ३२८)

श्लोक-संख्या ८

श्रीराधायास्तादृगवस्थां दृष्ट्वा पुरन्ध्यः स्त्रिय आहुः। अये सरले कृष्णः शठराजो लम्पटोऽद्यापि त्वया न विज्ञायते येन तव कुलधर्मादिकं सर्वं त्याजितं केवलावशिष्टः प्राणोऽपि गन्तुं समुद्यतः अतस्तदासक्तिं त्यजेति ताः प्रति सा भावप्राबल्यं दर्शयन्ती यदाह तत् श्रीश्रीभगवतः शचीनन्दनस्य पद्येन दर्शयति आश्लिष्येति। स लम्पटोऽपराधक्षमापनाय पादरतां मामाश्लिष्य प्रिये किं करोषीत्युक्त्वा आलिङ्ग्य तिष्ठतु स्थितादिपदाध्याहारेऽप्येक-कर्तृकतेति क्त्वा प्रत्ययः। क्रोधेन पिनष्टु वा तथा दर्शनात् मां सुखिनीं करोतु अदर्शनाद्वा मर्महतां मर्मस्थानपीडायुक्तां करोतु तथा यथा तथा अनुचितं पादग्रहणादिकं विदधातु स एव तु मत्प्राणनाथो न अपरोऽनात्मीय इत्यतस्तदासक्तिं कथं त्यजामीति भावः। (पद्यावली, श्लोक ३४१)

बंगाक्षरोंके प्राचीन ग्रंथ श्रीशिक्षामृतसे उद्धृत

शिक्षाष्टकके सात श्लोकोंका बंगला पद्यानुवाद

(१)

श्रीकृष्णेर सङ्कीर्त्तन, चित्तरूप दरपण, अनायासे करेन मार्ज्जन।
ए संसार-दावानले, दिवानिशि हिया जले, शीघ्र ताहा करे निर्व्वापन॥
कल्याण-कुमुद' परे, कौमुदी विस्तार करे, विद्यारूप वधुर जीवन।
आनन्दरूप अम्बुधि बाड़ान चरमावधि, पदे पदे सुधा आस्वादन॥
देह आत्मा प्राण मन, सकल इन्द्रियगण, सन्तोष जन्मान सबाकार।
जय जय सर्व्वोत्तम, कृष्णनाम सङ्कीर्त्तन, इहा बिना गति नाहि आर॥

(२)

प्रकाशि'अनन्त नाम, अनन्त रसेर धाम, कृपा करि ओहे भगवान।
आपनार सर्व्व शक्ति, अर्पण करिला तथि, साधिवारे जीवेर कल्याण॥
स्मरणे कोन विधि, ना करिले कृपानिधि, एतादृशी करुणा तोमार।
आमार दुर्दैव अति, नामे ना जन्मिल रति, धिक रहु जीवने आमार॥

(३)

अति क्षुद्र तृणज्ञाने, आपनाके नीच माने, सहिष्णुता तरुर समान।
आपनि अमानि हैया, अपरे सन्मान दिया, सदा हरिकीर्त्तन विधान॥

शिक्षाष्टकके सात श्लोकोंका बंगला पद्यानुवाद

(४)

नाहि चाहि रत्नधन, दास-दासी परिजन, नाहि चाहि सुन्दरी वनिता।
जगदीश! तोमा ठाँइ, हेन शक्ति नाहि चाइ, रचिवारे कोमल कविता॥
जन्मे जन्मे एइ कर, तुमि हे परमेश्वर! तोमारइ युगल चरणे।
अहैतुकी शुद्धा अति, जेन जन्मे से भकति, एइ मोर वाञ्छा सदा मने॥

(५)

हे नन्द-तनुज! शुन, तोमारे निवेदि पुन, ए विषम संसार-सागरे।
पतित हइया हाय! हइयाछि निरूपाय, एस नाथ! एस कृपा क'रे॥
ओ पद-पङ्कजदले, धूली सम लह तुले, चिरदिन रहिब मिशिया।
आर किछु नाहि चाइ, कातरे डाकिछि ताइ, उद्धारह किङ्कर भाविया॥

(६)

तोमार मधुर नाम, उच्चारिते अविराम, हेन दशा कबे मोर हबे।
दु'नयने अनिवार, बहिबे अश्रुर धार ए पाषाण हृदय गलिबे॥
आनन्दगद्गद् भाषे, कण्ठरोध हबे शेषे, पुलके पूरिबे सर्व्व अङ्ग।
घुचिबे सकल बन्ध, उथलिबे प्रेमानंद, आरो कत भावेर तरङ्ग॥

(७)

गोविन्द विरहे मोर, ना देखि दुःखेर ओर, निमेषे शतेक युग गणि।
बरिषार धारा प्राय, नयने हइते हाय! झरे अश्रु दिवस रजनी॥
सखि हे! ए विश्वचय, सब हेरि शून्यमय; —करो किछु उपाय विधान।
कातरे कहि हे तोरे, देखाइया चित चोरे, राख सखि! ए मोर प्राण॥

●

शिक्षाष्टकका हिन्दी पद्यानुवाद

(१)

जो चित्त-मुकुर-मल-मार्जन-कर, भव-घोर-दावहर घन निश्चय।
श्रेयः-कैरव-विधु-द्युति-वितरक, विद्या-वनिताका प्राणाश्रय।
आनन्द-उदधि-वर्द्धक, प्रतिपद पूर्णामृतरस-दाता अक्षय,
सबको नहला शीतलकारी[1], जय-जयति कृष्ण-संकीर्त्तन जय।।

(२)

नामोंको किया अनेक प्रकट, उनमें सम्पूर्ण शक्ति निज भर;
कोई न कालका बन्धन भी रक्खा उसके स्मृति-साधनपर।
दी बहा कहाँ तो इस प्रकार, भगवान् ! आपने कृपा-लहर;
उपजा न नाममें राग किंतु, मेरा ऐसा दुर्दैव इधर।।

(३)

छोटे-से लघु तिनकेसे भी बढ़कर अतिशय छोटा, लघुतर,
दो डग आगे वरवृक्षोंसे भी सहनशीलतामें बढ़कर[2]।
रह दूर मानसे स्वयं, किंतु दे मान सभीको, दे आदर,
हो श्रीहरिके कीर्त्तनमें रत, तन्मय होकर तन-मनसे नर।।

(४)

चाहता नहीं धनको, जनको, चाहता नहीं सुन्दर नारी
कविता-रूपिणी परम रम्या, हे जगदीश्वर ! हे असुरारी !

---

[1]नहलाकर—स्नान कराकर शीतल करने वाला

[2]'तरोरिव सहिष्णुना'—बनकर वैसा ही सहनशील, जैसा सहिष्णु होता तरुवर।

मम जन्म-जन्ममें, हे ईश्वर इस सृष्टि चराचरके सारी!
बस, बनी रहे अविचल अहैतुकी भक्ति तुम्हीमें, गिरिधारी ।।

(५)

हे नन्द-तनय ! हे करुणाकर ! यह दास आपका, यह किंकर
है गिरा हुआ, है डूब रहा अति विषम भवाम्बुधिके भीतर।
कृपया नीचे निज चरणोंके, सरसिज समान कोमल-सुन्दर
राजित रज-कणिका सदृश मुझे समझो, जानो, मानो, नटवर ।।

(६)

नयनोंसे आँसूकी धारा बहती हो अविरल झर-झरकर,
जो भी निकले वाणी मुखसे, उसका हो केवल गद्गद स्वर।
पुलकावलिसे भूषित होकर, यह उठे कलेवर सिहर-सिहर,
तव नाम-गान करते-करते, कब ऐसा होगा, वंशीधर!!

(७)

जब एक पलक भी गिरता है, लगता है मुझे समय युगसम;
यों आँखोंसे आँसू गिरते, हो वर्षा बरस रही झम-झम।
हो गया रिक्त, हो गया शून्य सम्पूर्ण विश्व स्थावर-जङ्गम;
गोविन्द-विरहकी धधक रही ज्वाला जबसे छातीमें मम ।।

(८)

चरणोंमें पड़ी हुई मुझको रौंदें या लें बाँहोंमें भर,
मर्माहत चाहे करें मुझे दर्शनसे अपने वञ्चितकर।
जैसी इच्छा हो, वैसा ही व्यवहार करें वे लम्पटवर,
मेरे तो पर, बस, वही एक हैं प्राणनाथ, कोई न अपर ।।

●

शिक्षाष्टकका उर्दू पद्यानुवाद

(श्रीव्रजमोहन 'मधुर')

(१)

शीशये-दिल[1] पर जिला[2] करता है हरि-संकीर्त्तन।
आतिशे[3] आलम[4] फ़ना[5] करता है हरि-संकीर्त्तन॥

इससे होता है शगुफ़्ता[6] ज़िन्दगानी[7] का कंवल।
है उरूसे[8]-इल्मे[9]-वहदत[10] का सुहाग इससे अटल॥

हर क़दम पर बख़्शता[11] है साग़रे[12] आबे-हयात[13]।
इसके नग़मों[14] से निखर उठती है दिल की कायनात[15]॥

वज्द-आगीं[16], रूह-अफ़ज़ा[17] इसकी हर झंकार है।
इस की जय में, इसकी लय में सबका बेड़ा पार है॥

(२)

बहुत-से नाम रखकर सबमें अपनी मक़दरत[18] भर दी।
न रक्खी कुछ उसूल[19] औ वक़्त की लेने में पाबन्दी॥

---

१. हृदयका दर्पण; २. मार्जन; ३. भीषण दावानल; ४. संसार; ५. दमन; ६. प्रफुल्लित; ७. जीवन; ८, ९, १०. आध्यात्मिक ज्ञान की नववधू; ११. प्रदान करता है; १२. प्याला; १३. पूर्णामृत; १४. संगीत; १५. सृष्टि; १६. प्रेमोन्मत्त और तन्मय बनाकर नचा देने वाली; १७. आत्मोल्लास पैदा करने वाली १८. दिव्य शक्ति; १९. नियम।

मगर फिर भी मिरी आवारा-बख़्ती[1] का यह आलम[2] है।
किसी भी नाम से कमबख़्त[3] को रग़बत[4] नहीं होती॥

(३)

एक तिनके से भी जब ज़ाइद[5] हो इजज़ो[6] इंकसार[7]।
हो शजर[8] से बढ़ के मुत्‌हम्मिल[9] महन-कश[10] बुर्दबार[11]॥
खो के ख़ुद[12] अपनी ख़ुदी[13] सबका रखे इज़्ज़ो[14] विक़ार[15]।
कीर्त्तन में हो हुसूले[16] लज़्ज़ते[17] दीदारे[18] यार[19]॥

(४)

न ज़र[20] की हो तमन्ना[21] और न ज़न[22] की कोई चाहत[23] हो।
न अरमाँ[24] शायरी[25] का हो न हमदम[26] की ज़रूरत[27] हो॥
मिरी हर ज़िन्दगी[28] में, बस, यही हो मुद्दआ[29] दिल का।

---

१. इधर-उधर मारा और भटकता हुआ दुर्भाग्य; २. दशा; ३. अभागे; ४. झुकाव-लगन ५. अधिक; ६. नम्रता; ७. दैन्य-भाव; ८. वृक्ष; ९. सहनशील; १०. कष्ट झेलने वाला; ११. धैर्यवान; १२. स्वयं; १३. स्वाभिमान; १४. मान; १५. प्रतिष्ठा; १६, १७, १८, १९. प्रियतम के दर्शनोंके आनन्दकी प्राप्ति २०. धन-धान्य; २१. लालसा; २२. सुन्दरी; २३. मनोकामना; २४. उत्कण्ठा; २५. कविता २६. स्वजन; २७. आवश्यकता; २८. जन्म; २९. आकांक्षा।

रुख़े[१]-पुरनूर[२] के जलवों[३] में खो जाने की हसरत[४] हो ॥

(५)

नन्द के फ़र्ज़न्द[५] ! मैं नाचीज़ो बद-अहवाल[६] हूँ ।
बादये-इसियाँ[७] से हूँ मख़्मूर[८] बद-ऐमाल[९] हूँ ॥
हर तरह से हूँ तिरी रहमत[१०] के क़ाबिल[११] अय् रहीम[१२] ।
हो क़दमबोसी[१३] अता[१४], इक ज़र्रये[१५] पामाल[१६] हूँ ॥

(६)

नाम लेते ही मुसल्सल[१७] बह चले अश्कों[१८] की धार ।
नात्क़ा[१९] रुँधने लगे और हो ज़बाँ बे अख़्तयार[२०] ॥
जिस्म[२१] का हर रोम बन जाये सरापा[२२] इन्तज़ार[२३] ।
ज़िन्दगी[२४] में कब वह दिन आयेगा, अय् जाने-बहार[२५] ॥

---

१. मुखारविन्द; २. प्रकाश एवं सौन्दर्ययुक्त; ३. दिव्य झलक; ४. अन्त समय तक रहनेवाली कामना। ५. सुपुत्र; ६. दुर्दशा-ग्रस्त; ७. गुनाहोंकी मदिरा; ८. नशेमें चूर; ९. पतित; १०. करुणा; ११. योग्य; १२. हे करुणाकर; १३. चरणारविन्दोंको चूमने का सौभाग्य; १४. प्रदान; १५. रजकण; १६. चरण-कमलोंसे लगा हुआ। १७. लगातार; १८. आँसुओं; १९. बोलनेकी शक्ति; २०. लाचार, बेबस; २१. शरीर; २२. साक्षात्; २३. प्रतीक्षा; २४. जीवन-काल; २५. प्राणेश्वर।

(७)

एक-इक पल हिज्र[१] का ऐसा कि उम्रे[२] बेशुमार।
हो रही हैं शौक़े[३] नज़्ज़ारा[४] में आँखे अश्कबार[५]॥
सारा आलम[६] अब तो वीराना[७] नज़र आने लगा।
आपकी फ़ुर्क़त[८] में ऐसा हो रहा है हाले-ज़ार[९]॥

(८)

कर लें इस पाबोस[१०] को सीने से चाहे हमकनार[११]।
दीद[१२] से महरूम[१३] करके छीन लें सब्रो[१४]क़रार[१५]॥
अलग़रज़ कुछ भी करें, है उनको कामिल[१६] अख़्तयार[१७]।
पर "मधुर" मेरे वही हैं जाने-मन[१८] जाने-बहार[१९]॥

---

१. विरह; २. अगणित जीवन; ३, ४. दर्शनों की उत्कण्ठा; ५. आँसू बरसाने वाली; ६. ज़माना; ७. निस्सार, सुनसान; ८. वियोग; ९. जीर्णावस्था। १०. पदारविन्दोंको चूमनेवाला; ११. मिलाकर एकाकार कर लेना; १२. दर्शन; १३. वञ्चित; १४. धैर्य; १५. स्थिरता; १६. पूर्ण; १७. अधिकार; १८. प्राणेश्वर; १९. आनन्दके केन्द्र।

श्रीजगन्नाथ-दशकम्

कदाचित् कालिन्दीतटविपिनसंसर्गिभवने
मुदाऽऽभीरीनारी - वदनकमलाऽऽस्वाद - मधुपः ।
रमा - शम्भु - ब्रह्मा - सुरपति - गणेशार्चितपदो
जगन्नाथः स्वामी नयनपथगामी भवतु मे ॥१॥

करे सव्ये वेणुं शिरसि शिखिपिच्छं कटितटे
दुकूलं नेत्रान्ते सहचरि - कटाक्षं विदधते ।
सदा श्रीमद्वृन्दावन - विपिन - लीलापरिचयो
जगन्नाथः स्वामी नयनपथगामी भवतु मे ॥२॥

महाम्भोधेस्तीरे कनकरुचिरे नीलशिखरे
वसन् प्रासादान्तः सहज - बलभद्रेण बलिना ।
सुभद्रा - मध्यस्थः सकल - सुर - सेवावसरदो
जगन्नाथः स्वामी नयनपथगामी भवतु मे ॥३॥

कृपा-पारावारः सजल-जलद - श्रेणि - रुचिरो
रमावाणी - सेव्यः स्फुरदमल - पङ्केरुहपदः ।
सुरेन्द्रैराराध्यः श्रुतिगण - शिखागीत-चरितो
जगन्नाथः स्वामी नयनपथगामी भवतु मे ॥४॥

परब्रह्मापीडः कमल - वदनोत्फुल्ल - नयनो
निवासी नीलाद्रौ निहितचरणोऽनन्तशिरसि ।
रसानन्दी राधा - सरस - वपुरालिङ्गन-सुखो
जगन्नाथः स्वामी नयनपथगामी भवतु मे ॥५॥

रथारूढो गच्छन् पथि मिलितभूदेवपटलैः
स्तुतः प्रादुर्भावं प्लुतपदमुपाकर्ण्य सदयः ।
दयासिन्धुर्बन्धुः सकलजगतां मुग्धसदयो
जगन्नाथः स्वामी नयनपथगामी भवतु मे ॥६॥

हर त्वं संसारं द्रुततममसारं सुरपते
हर त्वं पापानां विततिमपरां यादवपते ।
अहं याचे नित्यं परममचलं निश्चितमिदं
जगन्नाथः स्वामी नयनपथगामी भवतु मे ॥७॥

न च प्राप्यं राज्यं न च कनकमाहो न विभवं
न याचेऽहं रम्यां निखिलवरकाम्यां वरवधूम् ।
सदा काले कामं प्रमथपतिनोद्गीतचरितो
जगन्नाथः स्वामी नयनपथगामी भवतु मे ॥८॥

घनश्यामाकारः सुरमधुरधामा भवपिता
महेन्द्रादेराद्यो वररमणराधार्पिततनुः ।
लसच्छ्रीवत्साङ्कस्तरुणतुलसीमाल्य - सुभगो
जगन्नाथः स्वामी नयनपथगामी भवतु मे ॥९॥

सदानन्दाकारो जगति जगतां किल्बिषहरो
जगन्मूलाधारो जलधि-तनया सेवितपदः ।
जरामृत्युध्वंसी जलदपटलश्यामलरुचिः
जगन्नाथः स्वामी नयनपथगामी भवतु मे ॥१०॥

॥ इति श्रीजगन्नाथदशकं सम्पूर्णम् ॥

श्रीकृष्णप्रेमामृत-रसायन-स्तोत्रम्

एकदा कृष्णविरहाद् ध्यायन्ती प्रियसंगमम् ।
मनोबाष्पनिरासाय जल्पतीदं मुहुर्मुहुः ॥१॥

कृष्णः कृष्णेन्दुरानन्दो गोविन्दो गोकुलोत्सवः ।
गोपालो गोपगोपीशो बल्लवेन्द्रो व्रजेश्वरः ॥२॥

प्रत्यहं नूतनतरस्तरुणानन्दविग्रहः ।
आनन्दैकसुखस्वामी संतोषाक्षयकोशभूः ॥३॥

आभीरिकानवानन्दः परमानन्दकन्दलः ।
वृन्दावनकलानाथो व्रजानङ्गनवांकुरः ॥४॥

नयनानन्दकुसुमो व्रजभाग्यफलोदयः ।
प्रतिक्षणातिसुखदो मोहनो मधुरद्युतिः ॥५॥

सुधानिर्यासनिचयः सुन्दरः श्यामलाकृतिः ।
नव - यौवन - सम्भिन्नश्यामामृत - रसार्णवः ॥६॥

इन्द्रनीलमणिस्वच्छो दलिताञ्जनचिक्कणः ।
इन्दीवरसुखस्पर्शो नीरदस्निग्धसुन्दरः ॥७॥

कर्पूरागुरु - कस्तूरी - कुङ्कुमाक्ताङ्ग - धूसरः ।
सुकुञ्चित - कचग्रस्तोल्लसच्चारुशिखण्डकः ॥८॥

मत्तालिविलसत् - पारिजात - पुष्पावतंसकः ।
आननेन्दुजितानन्त - पूर्णशारदचन्द्रमाः ॥९॥

श्रीमल्ललाटपाटीर - तिलकालक - रञ्जितः ।
लीलोन्नतभ्रू - विलासो मदालसविलोचनः ॥१०॥

आकर्णरक्तसौन्दर्य - लहरीदृष्टिमन्थरः ।
घूर्णायिमान - नयनः साचीक्षण - विचक्षणः ॥११॥

अपाङ्गेङ्गितसौभाग्य - तरलीकृतचेतनः ।
ईषन्मुद्रित - लोलाक्षः सुनासापुटसुन्दरः ॥१२॥

गण्डप्रान्तोल्लसत्स्वर्ण - मकराकृतिकुण्डलः ।
प्रसन्नानन्दवदनो जगदाह्लादकारकः ॥१३॥

सुस्मेरामृतसौन्दर्य - प्रकाशी - कृत - दिङ्मुखः ।
सिन्दूरारुणसुस्निग्ध - माणिक्यदशनच्छदः ॥१४॥

पीयूषाधिकमाध्वीक - सूक्तिश्रुतिरसायनः ।
त्रिभङ्गललितस्तिर्यग् - ग्रीवस्त्रैलोक्यमोहनः ॥१५॥

कुञ्चिताधरसंसक्त - कूजद्वेणुविनोदवान् ।
कङ्कणाङ्गदकेयूर - मुद्रिकादिलसद्भुजः ॥१६॥

स्वर्णसूत्रसुविन्यस्त - कौस्तुभामुक्तकन्धरः ।
मुक्ताहारोल्लसद्वक्षः-स्फुरच्छ्रीवत्सलाञ्छनः ॥१७॥

आपीनहृदयो नीप - माल्यवान्बन्धुरोदरः ।
संवीतपीतवसनो रशनाविलसत्कटिः ॥१८॥

अन्तरीयपटीबन्ध - प्रपदान्दोलिताञ्चलः ।
अरविन्दपदद्वन्द्व - कलक्वणितनूपुरः ॥१६॥

पल्लवारुणमाधुर्य - सुकुमारपदाम्बुजः ।
नखचन्द्रजिताशेष - दर्पणेन्दुमणिप्रभः ॥२०॥

ध्वजवज्राङ्कुशाम्भोज - राजच्चरणपल्लवः ।
त्रैलोक्याद्भुतसौन्दर्य - परिपाकमनोहरः ॥२१॥

साक्षात्केलिकलामूर्तिः परिहासरसार्णवः ।
यमुनोपवनश्रेणी - विहारी व्रजनागरः ॥२२॥

गोपाङ्गनाजनासक्तो वृन्दारण्यपुरंदरः ।
आभीरनागरीप्राण - नायकः कामशेखरः ॥२३॥

यमुनानाविको गोपी - पारावारकृतोद्यमः ।
राधावरोधनरतः कदम्ब - वन - मन्दिरः ॥२४॥

व्रजयोषित्सदाहृद्यो गोपीलोचनतारकः ।
जीवनानन्दरसिकः पूर्णानन्दकुतूहलः ॥२५॥

गोपिकाकुचकस्तूरी - पङ्किलः केलिलालसः ।
अलक्षितकुटीरस्थो राधासर्वस्वसम्पुटः ॥२६॥

बल्लवीवदनाम्भोज - मधुपानमधुव्रतः ।
निगूढरसविद् गोपी - चित्ताह्लादकलानिधिः ॥२७॥

कालिन्दीपुलिनानन्दी क्रीडाताण्डवपण्डितः ।
आभीरिकानवानङ्ग - रङ्गभूमिसुधाकरः ॥२८॥

विदग्धगोपवनिता - चित्ताकूतविनोदकृत् ।
नानोपायन - पाणिस्व - गोपनारीगणावृतः ॥२६॥

वाञ्छाकल्पतरुः काम - कलारसशिरोमणिः ।
कंदर्पकोटिलावण्यः कोटीन्दुललितद्युतिः ॥३०॥

जगत्त्रयमनोमोहकरो मन्मथमन्मथः ।
गोपसीमन्तिनीशश्वद् - भावप्रेक्षापरायणः ॥३१॥

नवीनमधुरस्नेहः प्रेयसीप्रेमसंचयः ।
गोपीमनोरथाक्रान्तो नाट्यलीलाविशारदः ॥३२॥

प्रत्यङ्गरभसा - वेश - प्रमदाप्राणवल्लभः ।
रासोल्लासमदोन्मत्तो राधिकारतिलम्पटः ॥३३॥

खेलालीलापरिश्रान्तः स्वेदाङ्कुरचिताननः ।
गोपिकाङ्कोल्लसः श्रीमान् मलयानिलसेवितः ॥३४॥

इत्येवं प्राणनाथस्य प्रेमामृतरसायनम् ।
यः पठेच्छ्रावयेद्वापि स प्रेम्णि प्रमिलेद्ध्रुवम् ॥३५॥

॥ इति श्रीकृष्णप्रेमामृत-रसायन-स्तोत्रं सम्पूर्णम् ॥

श्रीयुगलपरिहार-स्तोत्रम्

हे सौन्दर्यनिदान रूपगरिमन् माधुर्यलीलानट !
हे आश्चर्यविशेषवेशधर हे ! वंशीविभूषाविभो !
हे वृन्दाटविभूविलासिनि लसत्केली-कला-कौमुदि !
हे राधे चरणं विधेहि शरणं हे कृष्ण तृष्णां हर ॥१॥

हे हे कृष्ण व्रजेन्द्रनन्दन विभो ! हे राधिके श्रीमति !
हे श्रीमल्ललितादिसख्यसुखिते ! हे श्यामलाप्रेमदे !
हे लीलाकलनात्तलालसद्भङ्गीत्रयप्रेयसि !
हे राधे चरणं विधेहि शरणं हे कृष्ण तृष्णां हर ॥२॥

हे पीताम्बरशोभनाब्जकर हे ! हे नीलचित्राम्बरे !
हे वंशीवट-केलि-कौतुक-पटो ! हे कुञ्जगेहेश्वरि !
हे श्रीरासविलासलम्पटपरो ! हे सुन्दरि प्रीतिदे !
हे राधे चरणं विधेहि शरणं हे कृष्ण तृष्णां हर ॥३॥

हे जाम्बूनदनिन्दिसुन्दर-तनो ! हे हे घनश्यामल !
हे हे पङ्कजपत्रनेत्रयुगले ! हे खञ्जनीलोचने !
हे चूडामणिबद्धचामरकचे ! हे हारिणि स्वामिनि !
हे राधे चरणं विधेहि शरणं हे कृष्ण तृष्णां हर ॥४॥

हे हे शारदपूर्ण चन्द्रवदने ! हे हे सुरम्यानने !
श्रीवत्साङ्कितचारुचित्रहृदये ! हे चित्रलेखाञ्चिते !
हे बिम्बाधरचारुचित्रचिबुके ! भ्रूभङ्गरम्यालिके !
हे राधे चरणं विधेहि शरणं हे कृष्ण तृष्णां हर ॥५॥

हे हे भानुसुता-यशोमतिसुतौ ! रामानुज श्यामल !
हे नाथ व्रजचन्द्र गोकुलपते ! हे नागरीनागर !
हे सर्वस्वविलासिनी-रतिपरे ! हे केशवामोदिनि !
हे राधे चरणं विधेहि शरणं हे कृष्ण तृष्णां हर ॥६॥

हे गान्धर्वे नटवरवपुर्मन्मथानन्दसिन्धो !
हे वैदग्ध्याधिक मधुरिमाधार हे प्राणनाथ !
हे रामापरमे परात्परपरीरम्भे सदोल्लासिनि !
हे राधे चरणं विधेहि शरणं हे कृष्ण तृष्णां हर ॥७॥

कारुण्यामृतचन्द्र सुन्दरवपुर्लावण्यलीलानट !
हे गोपीगणनाथ गोत्रधर हे ! गोविन्द गोपाल हे !
हे गौरीगुरुगौरवाखिलगुरो गोपाङ्गनावेष्टिते !
हे राधे चरणं विधेहि शरणं हे कृष्ण तृष्णां हर ॥८॥

हे हे कृपालुचरित ! व्रजकल्पवृक्ष !
कारुण्य-लेशकृत कातरलोकरक्ष !
हे कृष्ण ! हे रमण ! हे भुवनैकनाथ !
हा हा कदातिकरुणा भवतोर्भवेन्मे ॥९॥

॥ इति श्रीयुगलपरिहार-स्त्रोत्रं सम्पूर्णम् ॥

श्रीराधारसमञ्जरी

कुच-कलश-भरार्ता केसरिक्षीणमध्या
विपुलतरनितम्बा पक्वबिम्बाधरोष्ठी ।
प्रणयगद्यवयस्या-स्कन्ध-विन्यस्तहस्ता
निधुवनरसपुञ्जं याति राधा निकुञ्जम् ॥१॥

रमणिरमणखेलारम्भसम्भावनीया
रतिरभसगभीराऽऽभीरनारीषु धीरा ।
निकटविनयबद्धोद्धूतकान्तप्रसादा
नरपतिवरपुत्री याति राधा निकुञ्जम् ॥२॥

श्यामप्रेमविनोदिनी मधुरिमाधाराधरे स्मेरिणी
गौरी प्रेमवती शुभा च सुभगा प्रेमाब्धिसंवर्धिनी ।
गण्डे मण्डितकुण्डला कटितटे धत्ते मुदा किङ्किणीं
लीलाकाञ्चनदेहिनी विजयते वृन्दावन-स्थायिनी ॥३॥

शुद्धस्वर्णविडम्बिनी परिलसल्लावण्यसम्मोहिनी
नानारत्नविलासिनी मधुरिमाधाराधरे वंशिनी ।
कृष्णप्रेमतरङ्गिणी निरवधि प्रेमामृतालापिनी
श्यामप्रेमविनोदिनी विजयते राधा सुधादेहिनी ॥४॥

राधेयं नवयौवनाढ्यवयसोल्लासेन सानन्दिता
सुस्मेराधरबिम्बचन्द्रवदना हेमाद्रिकान्त्युज्ज्वला ।

नित्यं कल्पतरोस्तले निवसिता वेशेन भूषामयी
नानाशक्तिसमन्विता वितनुते प्रेमप्रवृत्तिं सदा ।।५।।

नानागीतविलासनृत्यरभसैरापूरितं दिङ्मुखं
गौरी चन्द्रमुखी सरोजनयनी कंदर्पसम्मोहिनी ।
रम्भाचारुनितम्बिनी रसवती प्रेमामृतोद्गारिणी
राधा काञ्चनदेहिनी विजयते वृन्दावन-स्थायिनी ।।६।।

वक्त्रे चन्द्रविलासिनी नयनयोः प्रेम्णा कृपापाङ्गिणी
बिम्बोष्ठाधरदन्तपङ्क्तिविलसन्मुक्तावलीचन्द्रिका ।
दोर्द्दण्डाङ्घ्रिसमुल्लसत्पुलकिनी संन्यासविन्यासिनी
राधा काञ्चनदेहिनी विजयते कारुण्यकल्लोलिनी ।।७।।

या श्रीः सत्यवती स्वयं भगवती प्रेमानुसंवादिनी
या नित्या मधुभाषिणी सुखमयी संतोषरत्नाकरी ।
या राधा सुधियां सुधारसमयी कृष्णप्रिया दुर्लभा
सा जीयात् क्षितिमण्डले प्रियतमा वृन्दावनावासिनी ।।८।।

प्रेमोद्गारिदृगन्तवीक्षणलतामाजीरयन्तीं परां
नानाभावविकासिनीं सुमधुरां स्मेरातिकान्त्याननाम् ।
प्रोद्यत्प्रोद्द्युतिशातकुम्भलतिकादेहां मनोहारिणीं
श्रीमन्नागररासरत्नजलधिं श्रीराधिकामाश्रये ।।९।।

सेयं विभाति परिनिन्दितहेमकान्ती
राधा विनिन्दितसुधामधुरैर्वचोभिः ।
प्रेम्णा वशेन गुरुणा नवरत्नवेशं
यत्किङ्किणी कटितटे परिरौति चित्रम् ।।१०।।

नवीना श्रीराधा नवरुचिरपूर्णेन्दुवदना
नवीन प्रेमाभिर्नवनवसखीभिः परिवृता ।
नवं वृन्दारण्यं नवकिसलयालम्बिततरुं
नवीनं रासार्थं व्रजति नवरङ्गे निधुवनम् ।।११।।

गौरी पद्ममुखी कुरङ्गनयनी क्षीणोदरी वत्सला
संगीतागमवेदिनी सुखमयी तुङ्गस्तनी कामिनी ।
श्यामप्रेमविनोदिनी मधुरिमाधाराधरे स्मेरिणी
त्रैलोक्यैकनितम्बिनी विजयते राधा सुधादेहिनी ।।१२।।

रासोल्लासविलासिनी नवलसत्सम्पूर्णचन्द्रानना
शुद्धस्वर्णविडम्बिकान्तिविलसद्वक्त्रेण व्याकुण्डला ।
लावण्यामृतमञ्जरी रसकलालोलाब्धिहिल्लोलिनी
राधा प्रेमविनोदिनी विजयते नित्यस्थलस्थायिनी ।।१३।।

उत्तुङ्गस्तनभारभङ्गुरतनु - विद्युच्छटाकच्छविः
श्रोण्यां नीलदुकूलिनी मृदुपदाम्भोजे स्फुरन्नूपुरा ।
सुस्मेराधरचन्द्रकान्तिवदना कंदर्पदर्पाङ्कुरा
प्रेमान्धा मदमन्थरा विजयते कृष्णप्रिया राधिका ।।१४।।

उन्मीलन्नवयौवना मृदुतरोत्फुल्लाब्जसालंकृता
सुश्रोणीभरभङ्गुरा स्मर-भर-स्मेराधरा मेदुरा ।
लीलाकन्दुकवासिनी प्रियसखी स्कन्धस्फुरत्पालिका
श्यामा श्यामसुहृत्तमा विजयते प्राणाधिका राधिका ।।१५।।

वृन्दावनान्तरचरी सुरपुष्पगुच्छं
सम्भिन्दती मदनमोदितदीर्घनेत्रा ।

कर्णे रसालमुकुलस्तबकं वहन्ती
श्यामाङ्गसंगमवती जयतीह राधा ॥१६॥

सैवेयं परिभाति चञ्चलरुचिं जित्वा जगन्मोहिनी
अत्यन्ताद्‌भुतसुन्दरी जितसुधावाक्यामृता राधिका ।
ईषद्धास्यमुखी कुरङ्गनयनी गौरी सुधासारिणी
प्रेमानन्दविलासिनी वितनुते प्रेमप्रवृत्तिं मुहुः ॥१७॥

श्रीराधा रतिभावमुग्धहृदया लोलायमानेक्षणा
पाणौ पुष्पधनुः स्रजं च दधती वृन्दावने क्रीडति ।
आश्चर्यैरभिचुम्बनै रतिकलालापैश्च संतर्पिता
गोविन्देन समं सखीगणवृता रासोत्सवं कुर्वती ॥१८॥

श्यामालिङ्गितगौरदेहलतया मेघस्थविद्युच्छविं
निन्दन्ती विकचाम्बुजद्वयरुचिं पद्‌भ्यां तिरस्कुर्वती ।
सर्वासां रतिकेलिवृन्दचतुरस्त्रीणां शिरोभूषणं
श्रीमन्नागररासरत्नजलधिं श्रीराधिकामाश्रये ॥१९॥

रासोल्लासविलास-वल्गु-रसिका सौन्दर्यसीमाश्रया
राधा प्रेममयी रतिं च कुरुते वृन्दावने सुन्दरी ।
श्रीकृष्णेन समं प्रफुल्लकुसुमैर्मत्तद्विरेफैर्युता
श्रीवृन्दावनदेवता विजयते राधा सुधामञ्जरी ॥२०॥

प्रेमानन्द-विलास-हास-रसिका श्यामा सरोजेक्षणा
गोपीमण्डलमण्डिता वरतनुः सिन्दूरसीमन्तिनी ।
श्रीवृन्दावनरासकौतुककरा पीनस्तनोल्लासिनी
श्रीकृष्णस्य विनोदिनी विजयते श्रीराधिका भाविनी ॥२१॥

उत्तप्तहेमरुचिरा वृषभानुकन्या
आकर्णनेत्रयुगला धृतपद्महस्ता ।
स्वर्णादिभूषणयुता नवलोमराजी-
संख्यासहस्त्रसखिभिर्जयतीह राधा ॥२२॥

तप्तकाञ्चनगौराङ्गीं राधां वृन्दावनेश्वरीम् ।
वृषभानुसुतां देवीं प्रणमामि हरिप्रियाम् ॥२३॥

राधायाः कलधौतगौरकिरणैर्वृन्दावनान्तर्गताः
कूजन्मत्तमयूरकोकिलगणा भृङ्गाः कुरङ्गाः शुकाः ।
कृष्णस्याद्भुतहासरासरसिका प्रोल्लासमुग्धाशया
सान्द्रानन्दरसाकरी स्मितमुखी श्रीकृष्णगौरेश्वरी ॥२४॥

गौरा भृङ्गकुरङ्गकोकिलगणा गौराः शुकाः सारिका
गौराः सर्वमहीरुहा वनचरा गौराणि पुष्पाणि च ।
गौराश्चक्रकपोतबर्हिविहगाः गौरं च वृन्दावनं
राधादेहरुचाद्भुतं सखिवृतः श्यामोऽपि गौरोऽभवत् ॥२५॥

राधादेहसुचारुगौरकिरणैरापूरितं दिङ्मुखं
वृन्दारण्यविहारकल्पतरवः गौराङ्गवर्णावृताः ।
गौराः कोकिलभृङ्गकेकिगवयाः सानन्दवृन्दावनं
राधादेहरुचाद्भुतं सखिवृतः श्यामोऽपि गौरोऽभवत् ॥२६॥

मौलौ केकिशिखण्डिनी मधुरिमाधाराधरे स्मेरिणी
पीनांसे वनमालिनी हृदि लसत्कारुण्यकल्लोलिनी ।
श्रोण्यां पीतदुकूलिनी चरणयोर्मञ्जीरविन्यासिनी
लीलाकाञ्चनदेहिनी विजयते श्रीकृष्णसंजीवनी ॥२७॥

सौन्दर्योत्सवकेलिपौरुषरसं गायन्ति ताः सुस्वरं
वीणावेणुमृदङ्गताल-महतीं संवादयन्त्योऽपि च ।
राधा नृत्यति दक्षिणे रसवती चन्द्रावली वामतः
मध्ये श्यामलसुन्दरो रसकलामुद्दीपयन्नुत्तमाम् ।।२८।।

अङ्गे गौरसुचन्द्रिका सुचरिते लावण्यभङ्ग्युत्सवा
श्यामप्रेमसुधानिधिर्वयसि संतारुण्यलक्ष्मीः स्वयम् ।
लावण्यैककलाप्रमोहनपदं रूपं जगद्वैभवं
राधायाः समता न चास्ति निखिले ब्रह्माण्डभाण्डे क्वचित् ।।२९।।

लीलालोलतरङ्गिणी नयनयोरानन्दकल्लोलिनी
कंदर्पोद्गमधारिणी रसवती काञ्चीरणन्नूपुरा ।
कृष्णासक्तविलोचना सपुलका प्रोद्यत्कुचा शोभिता
गोपालीगणसेविता विजयते राधा सुधावर्षिणी ।।३०।।

।। इति राधारसमञ्जरी सम्पूर्णा ।।

शिक्षाष्टक का शुद्धि-पत्र

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्धि	शुद्धि
४	नीचेसे ६	भाकर	ग्राकर
९	१२	समे कहे	सभे कहे
१०	७	गौरङ्गने	गौराङ्गने
१०	११	उस टीकाको	टीकाको
११	२	गृहित	गृहीत
११	१२	तिस्तारकं	निस्तारकं
१७	नीचेसे ५	सर्व्वटी कार	सर्व्व टीकार
१९	नीचेसे ५	तीसरे	बीसवें
२२	१	सन्मोदनभाष्य	सम्मोदनभाष्य
२२	४	दानेनोप करोति	दानेनोपकरोति
२३	१४	चक्र धर	चक्र धरि
२३	१४	नाम्बिलँ	नाम्बिलुँ
२३	१७	तोलोंचक्र	तोलों चक्र
२३	१९	तोहोर	तोहार
२३	१९	एइ नार	एइ तार
२४	१५	सरन-घन	सरन-धन
२४	१६	राजधर्मा हे	राजधर्मा है
२४	नीचेसे ३	ताहि जिबाय	ताहि जिवाय
३१	१	चतोदर्पणमार्जनं	चेतोदर्पणमार्जनं
३२	१६	श्लोक न	श्लोकमें
३४	नीचेसे २	भी जीव	जीव भी

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्धि	शुद्धि
४४	नीचेसे १०	अस्वादन	आस्वादन
४५	५	इहि	इह
६५	नीचेसे ८	सदा हरि	सदा हरिः
६७	सबसे ऊपर	अहैतुकी भक्तिकी चाह	सदा कीर्त्तन करना
६९	,,	व्याख्या-अहैतुकी	व्याख्या—अहैतुकी
७३	,,	गलदश्रु-श्लोककी	गलदश्रु—श्लोकी
७३	१	गलदश्रधाराया	गलदश्रुधारया
७४	नीचेसे २	प्यार	पयार
७५	४	सकता । पुष्प	सकता, पुष्प
७५	७	युक्तिसंगत	युक्तिसंगत है
७५	१४	अनन्न	अनन्त
७५	नीचेसे ४	जगनेर	जगतेर
७६	८	जाना है	जाना जाता है
७६	९	हरिभक्त (दो जगह)	हरिभक्ति (दो जगह)
७७	३	सर्वसाधारण	सर्व-साधारणको